ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

–श्रीराम शर्मा आचार्य

ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

लेखक :

पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रकाशक

युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट

गायत्री तपोभूमि, मथुरा

फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९

मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९

फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१०   मूल्य : १०.०० रुपये

ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ?

बुद्धि और इंद्रियों की सहायता से हमें विश्व ब्रह्मांड का थोड़ा-बहुत परिचय प्राप्त होता है। यह ज्ञान बहुत ही स्वल्प है, इसके अतिरिक्त भी अनेक ब्रह्मांड ऐसे हैं, जिनके संबंध में हम भूलोकवासी मनुष्य प्राणियों को कुछ भी ज्ञान नहीं है। समस्त सृष्टि इतनी विस्तीर्ण है कि बुद्धि की वहाँ तक पहुँच नहीं हो पाती। यह महान रचना किसी न किसी निर्माता की कृति है। बिना व्यवस्था के तो हमारे छोटे-छोटे काम भी नहीं चलते, फिर इतनी बड़ी सृष्टि का काम बिना किसी संचालन के किस प्रकार चल सकता है ? हमारे शरीर के कल-पुरजे बड़ी भारी आश्चर्यजनक उत्तमता के साथ बने हुए हैं। इतना उत्तम यंत्र बनाने में कोई भी विज्ञानवादी अब तक समर्थ नहीं हुआ। चलाने वाले जीव के निकल जाने पर यह वेशकीमती यंत्र भी बेकार हो जाता है। इसका एक भी कल-पुरजा अपना काम नहीं कर पाता, फिर संसार का सारा कार्य जो बिलकुल नियमपूर्वक हो रहा है, क्या बिना किसी संचालक के संभव है ? सूर्य, चंद्र, पृथ्वी, ग्रह, नक्षत्र, इतने नियमबद्ध हैं कि कभी एक सेकंड का भी फरक नहीं पड़ता, दिन के बाद रात होने की शृंखला कभी टूट नहीं पाती। बचपन के बाद जवानी, फिर बुढ़ापा आता है। पेड़ों में फूल के बाद फल निकलते हैं, गेहूँ के बीज से गेहूँ उत्पन्न होता है। ऐसा कभी नहीं होता कि गेहूँ से चना पैदा हो या पहले फल आता हो और पीछे फूल निकलता हो, न कभी ऐसा ही होता है कि बच्चा पहले बुड्ढा हो जाए और फिर जवान हो, सारे काम बिलकुल ठीक नियम से चल रहे हैं। कभी-कभी भूकंप, दुर्भिक्ष, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि अनियमितताएँ दिखाई पड़ती हैं, पर यह

सब एक विशेष नियम के आधार पर ही होता है। उन मूल नियमों के समझने वाले तत्त्वज्ञानी विवेकवानों को समस्त सृष्टि में एक रंचमात्र भी अव्यवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। इसलिए निस्संदेह इस सुव्यवस्थापूर्वक चलती हुई सृष्टि का चलाने वाला कोई अवश्य होना चाहिए। संसार एक यंत्र है। इसका संचालन करने वाली शक्ति को ही ईश्वर कहते हैं। मोटर, जहाज या रेल को बनाने वाला और चलाने वाला कोई विवेकवान मनुष्य होता है। इस सृष्टि को बनाने और चलाने वाली शक्ति ही ईश्वर है।

यह ठीक है कि ईश्वर को हम इंद्रियों से अनुभव नहीं कर सकते, तो भी यह कहना अनुचित होगा कि ईश्वर नहीं है। बहुत सी वस्तुओं को हम प्रत्यक्ष अनुभव नहीं करते, तो भी अनुमान के आधार पर उनका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है। इस समय जिस कलम को हाथ में पकड़कर यह पंक्तियाँ लिख रहे हैं, उसका कोई बनाने वाला है–यह बात हम इंद्रियों की सहायता से नहीं जान सकते। आँखों से वह दिखाई नहीं पड़ रहा है, तो भी अनुमान यह कहता है कि उसका बनाने वाला अवश्य रहा होगा। ईश्वर को छुआ या देखा नहीं जाता, तो भी उसकी कृतियाँ पुकार–पुकार कर साक्षी दे रही हैं कि हमारा रचयिता कोई न कोई अवश्य है।

भौतिक विज्ञानवादी इस शक्ति का नाम 'प्रकृति' बताते हैं। अध्यात्मवादी इसी को 'ईश्वर' कहते हैं। जिन्हें आज अनीश्वरवादी कहा जाता है, असल में वे भी ईश्वर को स्वीकार करते हैं। मतभेद ईश्वर के गुण, कर्म और स्वभाव के संबंध में हैं। ऐसे मतभेद तो हर संप्रदाय दूसरे संप्रदाय के साथ रखता है, परंतु वह अनीश्वरवादी नहीं कहा जाता, फिर भौतिक विज्ञानवादियों को नास्तिक कहना उचित न होगा। 'सृष्टि का निर्माण और संचालन करने वाला एक अदृश्य तत्त्व मौजूद है'–इस महान सत्य से कोई भी इनकार नहीं कर सकता।

ईश्वरतत्त्व केवल निर्माण करने वाला और संचालन करने वाला ही हो, सो बात भी नहीं है, वरन उसमें अनेक गुण हैं। जैसे सूर्य की असंख्य किरणें अनेक प्रकार की हैं और उनमें अनेक गुण हैं। ईश्वर की निर्माण करने वाली शक्तियों को पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश–पंचभूत नाम से पुकारते हैं। इन पंचभूतों से जड़ पदार्थ का, विवेकरहित वस्तुओं का बनना–बिगड़ना होता है।

निर्जीव रचना के अतिरिक्त सजीव रचना है जिसे प्राणिजगत कहते हैं। जड़ और चेतन इन दो नामों से सृष्टि विभक्त है। चेतन प्राणियों में जीवन बनाए रहना, उन्नति करना तथा आनंद भोगना–यह तीन गुण हैं। चेतन शक्ति के इन तीन तत्त्वों को सत्–चित्–आनंद नाम से पुकारते हैं। जैसे जड़जगत की रचना पंचभूतों की क्रियाशीलता है, वैसे ही चेतनजगत की मूल प्रकृति सत्–चित्–आनंद तत्त्वों के कारण से है और जड़–चेतन दोनों ही पक्षों की रचना करने वाले यह पृथक–पथक तत्त्व मूलतः एक ही आद्यशक्ति की धाराएँ हैं, एक ही सूर्य की किरणें हैं।

कुछ दिन पहले विज्ञानवादी ऐसा समझते थे कि केवल पंच–भूतों की एक विशेष प्रकार की रचना में अपने आप चैतन्यता आ जाती है, पर अब विज्ञानवादी अपनी भूल स्वीकार करते जाते हैं। उन्हें यह मानना पड़ रहा है कि जड़तत्त्व ही सृष्टिकर्त्ता नहीं है वरन यह पंचभूत भी एक आद्यशक्ति की धाराएँ हैं। वह आद्यशक्ति अंधी, निर्बुद्धि या जड़ नहीं है वरन विवेकवान, फलवान, व्यवस्था रखने वाली, संशोधन करने वाली, संतुलन को ठीक बनाए रहने वाली भी है। सृष्टि को कार्यक्षम रखने वाले इलेक्ट्रॉन परमाणुओं को सूक्ष्म परीक्षक यंत्रों की सहायता से मालूम कर लिया गया है, पर वे विद्युत परमाणु पच्चीस हजार मील प्रतिक्षण की द्रुतगति से अपनी धुरी पर कैसे घूम रहे हैं–इस संदेह का समाधान आद्यशक्ति को माने बिना और किसी प्रकार नहीं होता।

जैसे अग्नि, वायु आदि स्थूल तत्त्व सर्वत्र अदृश्य रूप से व्याप्त हैं उसी प्रकार वह आद्यशक्ति इन जड़ पंचभूतों तथा अन्य चैतन्य तत्त्वों के भीतर अत्यंत सूक्ष्म होकर विराज रही है। बल्ब को जलाने वाली सूक्ष्म विद्युतशक्ति तार में रहती है, इस विद्युत को बनाने वाली सूक्ष्म शक्ति चुंबक में रहती है, चुंबक में क्रियाशीलता विश्वव्यापक अग्नि-तत्त्व से आती है। एक शक्ति का निर्माण दूसरी सूक्ष्म बीजशक्ति से होता है। पंचतत्त्वों की भी एक बीजशक्ति है। उस बीजशक्ति के बिना वे भी बेचारे अपना काम करने में समर्थ नहीं हो सकते। अग्नि में गरमी कायम रखने वाली भी कोई सत्ता है। उस आदि बीजशक्ति को ईश्वर कहते हैं, वह सूक्ष्म से सूक्ष्म है किंतु उसी के द्वारा बने पदार्थ हमारे चारों ओर फैले पड़े हैं इसलिए उसे स्थूल से स्थूल भी कहा जा सकता है।

जो वस्तु जितनी सूक्ष्म होगी, वह उतनी ही व्यापक होगी। पंचभूतों में पृथ्वी से जल, जल से वायु, वायु से अग्नि और अग्नि से आकाश सूक्ष्म है, इसलिए एक-दूसरे से अधिक व्यापक हैं। आकाश ईश्वरतत्त्व, हर जगह व्याप्त है। ईश्वर की सूक्ष्मता सर्वोपरि है इसलिए इसकी व्यापकता भी अत्यधिक है। विश्व में रंचमात्र भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ ईश्वर न हो। अणु-अणु में उसकी महत्ता व्याप्त हो रही है। स्थान विशेष में ईश्वरतत्त्व की न्यूनाधिकता हो सकती है। जैसे-चूल्हे के आस-पास गरमी अधिक होती है इसलिए यह कहा जा सकता है कि उस स्थान पर अग्नितत्त्व की विशेषता है, इसी प्रकार जलाशयों के समीप शीतल स्थान में अग्नितत्त्व की न्यूनता कही जाएगी। जहाँ सत्य का, विवेक का, धर्म का आचरण अधिक है; वहाँ ईश्वर की विशेष कलाएँ विद्यमान हैं। जहाँ आलस्य, प्रमाद, पशुता, अज्ञान है; वहाँ ईश्वर की न्यूनता कही जाएगी। संपूर्ण शरीर में जीव व्याप्त है, जीव के कारण ही शरीर की स्थिति और वृद्धि होती है परंतु उसमें भी स्थान विशेष पर जीव की न्यूनाधिकता देखी जाती है। हृदय,

मस्तिष्क, पेट आदि मर्म स्थानों पर तीव्र आघात लगने से मृत्यु हो जाती है, परंतु हाथ, पैर, कान, नाक, नितंब आदि स्थानों पर उससे भी अधिक आघात सहन हो जाता है। बाल और नाखून जीव की सत्ता से ही बढ़ते हैं, पर उन्हें काट देने से जीव को कुछ हानि नहीं होती। संसार में सर्वत्र ईश्वर व्याप्त है। ईश्वर की शक्ति से ही सब कार्य होते हैं, परंतु सत्य और धर्म के कामों में ईश्वरत्व की अधिकता है। इसी प्रकार पाप-प्रवृत्तियों में ईश्वरीय तत्त्व की न्यूनता समझी जानी चाहिए। धर्मात्मा, मनस्वी, उपकारी, विवेकवान और तेजस्वी महापुरुषों को 'अवतार' कहा जाता है क्योंकि सत्यनिष्ठा के आकर्षण से ईश्वर की मात्रा उनके अंतर्गत अधिक होती है। अन्य पशुओं की अपेक्षा गौ में तथा अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मण में ईश्वर का अंश अधिक माना गया है क्योंकि इनकी सत्यनिष्ठा, उपकारी स्वभाव ईश्वरशक्ति को बलपूर्वक अपने अंदर अधिक मात्रा में खींचकर धारण कर लेता है।

उपर्युक्त पंक्तियों में बताया जा चुका है कि संपूर्ण जड़-चेतन शक्ति का निर्माण, नियंत्रण, संचालन और व्यवस्था करने वाली आद्य बीजशक्ति को ईश्वर कहते हैं। यह संपूर्ण विश्व के तिल-तिल स्थान में व्याप्त है परंतु सत्य की, उपकार की, विवेक की, कर्त्तव्य की जहाँ अधिकता है वहाँ ईश्वरीय तत्त्व अधिक है। जिन स्थानों में अधर्म का जिन अंशों में समावेश है, वहाँ उतने ही अंश में ईश्वरीय सत्ता की न्यूनता है। ईश्वर कौन है ? कहाँ है ? इन दो प्रश्नों का उत्तर उपर्युक्त पंक्तियों में मिल जाता है। अब एक प्रश्न रह जाता है कि 'ईश्वर कैसा है ?' नीचे की पंक्तियों में इस संबंध में कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जा रहा है।

सृष्टि के निर्माण में ईश्वर का क्या उद्देश्य है ? इसका ठीक-ठीक कारण जान लेना मानव बुद्धि के लिए अभी तक शक्य नहीं हुआ। शास्त्रकारों ने अनेक अटकलें इस संबंध में लगाई हैं, पर उनमें से एक भी ऐसी नहीं है जिससे पूरा संतोष हो सके। सृष्टि रचना में

ईश्वर का उद्‌देश्य अभी अज्ञेय बना हुआ है। भारतीय अध्यात्मवेत्ता इसे ईश्वर की लीला कहते हैं। खेल–खेल में उसने इच्छा की कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ, इसलिए उस अदृश्य शक्ति ने दृश्य संसार की रचना कर डाली। '**एकोऽहं बहुस्याम**' की उक्ति पर ही अभी हमें संतोष करना होगा। संभव है कि भविष्य में इस संबंध में कुछ अधिक जानकारी प्राप्त की जा सके, पर आज तो उस अज्ञेय मर्म के संबंध में बेचारी मानव बुद्धि केवल 'लीलाधर की लीला' ही कहने में समर्थ है।

चैतन्य सृष्टि के संबंध में ईश्वर की क्या इच्छा है? इस संबंध में विकासवाद की खोज के बाद बहुत कुछ पता चल जाता है। हम देखते हैं कि तुच्छातितुच्छ जीव भी विकास करता हुआ आगे की ओर बढ़ा चला जा रहा है। हर एक प्राणी उन्नति के लिए प्रयत्नशील है। उत्थान की आंतरिक प्रेरणा जो जीवमात्र में होती है, ईश्वर की इच्छा समझी जा सकती है। तुच्छता से महानता की ओर, लघुता से महत्त्व की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर चलते हुए जीव पूर्णता को प्राप्त हो। बंधन से छुटकारा पाकर मुक्त बने। आत्मा परमपद को प्राप्त कर परमात्मा बन जावे। चैतन्य सृष्टि के लिए यही ईश्वरीय आदेश प्रतीत होता है। यह आदेश ठीक प्रकार पालन किया जा सके इसलिए उसने अपने को निर्लिप्त और समदर्शी रखा है। किसी जीव की स्वतंत्र कार्यकारिणी शक्ति में वह जरा भी हस्तक्षेप नहीं करता और न किसी के साथ किसी प्रकार का पक्षपात करता है। उसने सृष्टि बनाई है और बनाकर नियम सूत्रों से इस प्रकार बाँध दिया है कि सब कार्य यथावत चलता रहा है। घड़ी बनाने वाला कुछ विशेष नियमों के आधार पर घड़ी के पुरजे फिट कर देता है, फिर वह घड़ी अपने आप चलती रहती है। घड़ी और संसार के उदाहरण में इतना ही अंतर है कि घड़ी बनाने वाले का पीछे उससे कोई संबंध नहीं रहता, परंतु ईश्वर और संसार का संबंध ऐसा नहीं है। ईश्वर सृष्टि में व्यापक है और अपने निर्धारित नियमों के

अनुसार चलती हुई सृष्टि को निर्लिप्त होकर साक्षी भाव से देखता रहता है। जीवों को कार्य करने की पूरी-पूरी स्वतंत्रता उसने दी है और साथ ही उसके पीछे चित्रगुप्त देवता बाँध दिया है जो यथावत कर्मफल देता चले। गायें चराने वाले ग्वाले लोग किन्हीं गायों के गले में मोटी लकड़ी बाँध देते हैं। अगर गाय अनुचित रूप से भाग-दौड़ करती है तो गले में बँधी हुई लकड़ी उसके घुटनों में तड़ातड़ अपने आप लगती है। कर्म का फल अपने आप मिलता रहता है और चराने वाला ग्वाल वृक्ष की छाया में बैठा हुआ यह सब दृश्य देखता रहता है। ईश्वर भी जीवों के साथ ऐसा ही व्यवहार करता है। उसने हर चीज के लिए एक व्यवस्था बना दी है। उस व्यवस्था को स्वभावतः सब जानते हैं। कहीं बाहर जाकर सीखने की आवश्यकता नहीं पड़ती। 'अंतःकरण की पुकार' एक निर्दोष धर्मशास्त्र है जिसे हर जीव अपने साथ जन्म से ही पाता है। धर्माचरण करने वाले अपनी यात्रा आनंदपूर्वक जारी रखते हुए परमपद तक पहुँच जाते हैं। बदमाशी करने वालों के यथावत कर्मफल, उसके साथ रहने वाला चित्रगुप्त देवता देता चलता है। दौड़ने वाली गाय अपने गले में बँधी हुई लकड़ी से अपने आप अपने पैर घायल करती चलती है। यह बात भली प्रकार स्मरण रखने की है। ईश्वर ने सर्वोत्तम शक्तियाँ देकर शरीर-मन, बुद्धि, इंद्रियों से सुसज्जित करके जीव को जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए भेजा है। साथ ही पूरी-पूरी स्वतंत्रता भी प्रदान की है। ईश्वर कर्म करने के स्वतंत्र अधिकार से किसी को रत्ती भर भी वंचित नहीं करता है और न कर्मफल के लिए चित्रगुप्त की जो व्यवस्था है, उसमें किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता है। इस प्रकार ईश्वर कैसा है ? इस प्रश्न के उत्तर में उसे समदर्शी, निष्पक्ष और निर्लिप्त कहा जाता है।

उस आद्य बीजशक्ति परमात्मा की अनेकानेक सूक्ष्म शक्तियों को प्राप्त करने के लिए अध्यात्म विज्ञान के तत्त्ववेत्ताओं ने साधना मार्ग का आविष्कार किया। साधना में ध्यानयोग प्रधान है। ध्यान उसी वस्तु

का हो सकता है, जो स्थूल हो, इंद्रियों से अनुभव की जा सकती हो। शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श में ध्यान के लिए रूप का स्थान सर्वोपरि है। ध्यान के लिए रूप की कल्पना आवश्यक प्रतीत हुई इसलिए आचार्यों ने मनोविज्ञान मर्म का ध्यान रखते हुए ईश्वर के रूप की कल्पना की। आमतौर से मनुष्य ने ईश्वर के लिए उन्नतिशील मनुष्य के ही रूप की कल्पना की है। राम, कृष्ण, विष्णु, शिव, गणेश, दुर्गा, लक्ष्मी आदि मनुष्यरूपधारी ईश्वर की प्रतिमाएँ बनाई गई हैं। परंतु वास्तविकता ऐसी नहीं है। उस आद्यशक्ति को मनुष्यरूपधारिणी ही माना जाय और पशु-पक्षी, कीट-पतंग, वृक्ष-वनस्पति रूप में न माना जाय तो यह अनुचित है। ईश्वर यदि मनुष्य है तो पशु-पक्षी, कीट-पतंग भी अवश्य है या फिर एक भी रूप उसका नहीं है। ईश्वर के नाम पर जो कागज की छपी हुई तसवीरें, धातु-पत्थरों की बनी हुई मूर्तियाँ तथा ध्यानयोगियों की मानसिक कल्पना-प्रतिमाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे सचमुच ही ईश्वर नहीं हैं, क्योंकि अत्यंत सूक्ष्म और व्यापक तत्त्व का एकत्रित मूर्त रूप नहीं हो सकता। यदि अग्नितत्त्व की एक मूर्ति बनाकर कहा जाय कि यही पूर्ण अग्निदेवता है तो यह बात असत्य समझी जाएगी, क्योंकि यदि एक ही स्थान पर अग्नि एकत्रित हो गई तो अन्य स्थानों पर उसका होना कैसे संभव है ? यदि क्षीरसागर में शयन करने वाले विष्णु ही ईश्वर हैं तो फिर क्षीरसागर से बाहर की व्यवस्था कौन करता है ? इस प्रश्न का ठीक प्रकार समाधान न होने से अनेक ईश्वरवाद का मत चल पड़ा था। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, गणेश आदि करोड़ों अलग-अलग ईश्वर समझे जाने लगे थे। इस संबंध में पाठकों को निश्चित रूप से समझ लेना चाहिए कि ईश्वर-तत्त्व के सूक्ष्म रूप की कल्पना नहीं हो सकती। स्थूल रूप की कल्पना वह हो सकती है जिसे 'विराट रूप' कहते हैं। अन्य प्रतिमाएँ या तो किन्हीं महापुरुषों की हैं या ध्यानयोग के लिए बनाई गई उच्च आदर्शमयी मानसिक मूर्ति हैं। मूर्तिपूजा आवश्यक है, पर उसका उपयोग ध्यान साधना द्वारा मानसिक

उन्नति के लिए है। तत्त्वज्ञान के जिस रूप को यत्र-तत्र दिखाई पड़ने वाली कागज की तसवीरों या धातु-पत्थरों की मूर्तियों को ईश्वर मान लेने के लिए नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार उस आद्य बीजशक्ति को-ईश्वरतत्त्व को-विद्युत अग्नि एवं वायु के समान निराकर कहा जाता है।

एक शब्द में ईश्वर को सृष्टि का निर्माण, नियंत्रण तथा संचालन करने वाला, दाता, समदर्शी, निष्पक्ष, निर्लिप्त तथा निराकार कहा जा सकता है। वह किसी से प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं होता, निंदा-स्तुति उसके लिए समान हैं। सम्राट स्वयं किसी चोर को पकड़ने नहीं जाते और न राजभक्तों को पुरस्कार बाँटते-फिरते हैं। उनकी शासन व्यवस्था इस ढंग से बनी हुई है कि कानून के अनुसार लोग अपने कर्मों का दंड-पुरस्कार पाते रहते हैं। अविनाशी ईश्वर के शासन का कार्यतंत्र, नियम-धर्म की धुरी पर घूमता रहता है और परमात्मा साक्षी रूप से निर्लिप्त होकर उसका अवलोकन करता रहता है।

❐

ईश्वरीय शासन से धर्मरक्षा

धर्म का अभाव होने में अव्यवस्था को प्रधान कारण माना जाता है। संगठन, निरीक्षण, अनुशासन रखने से समाज का सारा काम विधिपूर्वक चलता रहता है, पर जब इसमें गड़बड़ी होती है तब उसका प्रभाव धर्म के तत्कालीन स्वरूप पर भी अवश्य पड़ता है। मनुष्य क्रमशः उन्नति करते हुए सभ्य, सुसंस्कृत, शांतिप्रिय, उदार और सामाजिक प्राणी बना है, फिर भी उसकी पाशविक वृत्तियाँ मरी नहीं हैं। यदि मनमानी स्वच्छंदता का अवसर प्राप्त हो, किसी नियंत्रण का भय न हो तो वह पीछे की ओर लौट पड़ता है और नंगा नाच नाचने लगता है। बग्घी में जुते हुए घोड़े को यदि यों ही छोड़ दिया जाय तो वह बिना आगा-पीछा सोचे सीधा अपने अस्तबल की ओर चल पड़ेगा। पीछे उसे दोबारा दूनी मेहनत करके बहुत सा समय बेकार गँवाकर उसी बग्घी में जुतना पड़ेगा, मालिक नाराज होगा, पहुँचने में विलंब होगा, यात्रा पूरी करने के लिए तेजी से दौड़ना पड़ेगा। इन सब बातों की ओर घोड़े का ध्यान नहीं होता। इसकी पुरानी आदत ऐसी है कि पीछे के स्थान को-पुराने अस्तबल को अधिक पसंद करता है। मनुष्य भी स्वच्छंदता प्राप्त होने पर वैसा ही आचरण करता है, क्योंकि वह भी तो आखिर एक पशु ही है। नियंत्रण या अंकुश के अभाव में वह ऐसे मार्ग पर चलेगा जो दूसरे के लिए-देश जाति के लिए उपयोगी हो, यह आशा करना व्यर्थ है। निरंकुश साँड़ चाहे जिसके खेत में चरने पहुँच जाता है, दूसरों के हानि-लाभ से उसे कुछ वास्ता नहीं, मुझे अधिक से अधिक सुस्वाद हरा चारा मिले, उसका दृष्टि-बिंदु यही एक होता है। 'खेत न चरकर घास चरो, अपने लाभ के साथ दूसरे की हानि का भी ध्यान रखो' इस बात की शिक्षा देने वाला व्यावहारिक गुरु 'डंडा' ही हो सकता है। कोरी विनय, शास्त्रचर्चा, उपदेश, कंठीमाला, पद-प्रतिष्ठा से काम नहीं चलता। नियंत्रण न होने

पर भी कोई व्यक्ति सात्विक धर्म का पालन करे, यह बहुत ही कठिन है। यदि कोई भय न हो और सुंदर भोजन का थाल रखा हुआ मिल जाय तो यह संभव नहीं कि मनुष्य उसे धर्म समझकर न चर ले। विश्वामित्र, व्यास सरीखे ऋषि-मुनि एकांत स्थान में सुंदर स्त्रियाँ पाकर अपने ब्रह्मचर्य को सुस्थिर न रख सके। यदि किसी सोने की खान का पता लग जाय तो यह समझकर भला कौन निर्लोभ रहा आवेगा कि यह पराई भूमि की वस्तु है। रास्ते में पड़े हुए पैसे मिल जाएँ तो धर्मपूर्वक उन्हें राज्यकोष में जमा करना चाहिए, पर व्यवहार से वैसा आचरण करते हुए कितने देखे जाते हैं ?

"स्वच्छंदता प्राप्त होते ही मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों की ओर लौट पड़ता है, स्वार्थ ही उसका प्रधान उद्‌देश्य बन जाता है। अपनी थोड़ी सी सुविधाओं के ऊपर वह दूसरों के बड़े से बड़े सुख को नष्ट करने के लिए तैयार हो जाता है।" इस कडुवे सत्य को सभ्यता के आरंभ काल से ही अनुभव किया जाता रहा है और ऐसे उपाय खोजने का प्रयत्न होता रहा है जिससे व्यक्तिगत लालसाओं पर, पाशविक वृत्तियों पर नियंत्रण रखा जाए और व्यक्तिगत इच्छाओं को इतना न बढ़ने दिया जाए कि वह समाज के लिए घातक हो जाएँ। बड़ी मछली छोटी मछली का भक्षण करके अपनी क्षुधा तृप्त करती है, सर्पिणी अपनी भूख को शांत करने के लिए अपने ही बच्चों को उदरस्थ कर जाती है, बड़ा पेड़ अपने आस-पास के पौधों की खुराक छीनकर खुद खा जाता है, यह देखने में आता है। परंतु यदि यही व्यवस्था मानव जाति में भी निरंकुश रूप धारण कर ले तो निस्संदेह हमारी सामाजिकता नष्ट हो जाएगी और आदिम युग की भाँति नंग-धड़ंग पर्वतों की गुफाओं में रहकर मांसाहार की चिंता में इधर से उधर फिरना, एक-दूसरे से कुत्तों की तरह युद्ध करना, यही दृश्य फिर उपस्थित हो जाएँगे, जिसे अब हम में से कोई पसंद न करेगा। यदि आदिम युग की ओर नहीं लौटना है और सुख-शांतिपूर्वक सामाजिक

जीवन बिताना है तो इस गुत्थी को सुलझाना आवश्यक है कि मनुष्य अपनी पाशविक वृत्तियों पर, निजी सुख-समृद्धि पर नियंत्रण रखे, स्वार्थ के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाए।

प्रतीत होता है कि ब्रह्माजी ने वेदों का आरंभ इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए किया। वेदों में ईश्वर की बड़ी प्रशंसा है। लिखा है कि ईश्वर ही मनुष्यों को जन्म देता है, पालन करता है, मारता है, स्वर्ग-नरक देता है, धन-संतान, आरोग्य आदि लौकिक सुख देता है, हमारे गुप्त-प्रकट सारे कामों को देखता है। 'ईश्वरवाद' का आरंभ मनुष्य की मानसिक भूमिका पर एक अदृश्य शासन स्थापित करने के लिए हुआ। उस समय सामाजिक व्यवस्था एवं शासनतंत्र का निर्माण न हुआ था, यदि हुआ था तो वह बहुत ढीला था। हर व्यक्ति को उसकी मूल इच्छाओं के विपरीत कठोर नियंत्रण में रखा जाना कठिन था। ऐसी दशा में ईश्वरवाद बहुत उपयोगी था। इस सिद्धांत पर विश्वास करने वाले-आस्तिक ईश्वरवादी-स्वभावत: अपने ऊपर एक शक्तिशाली शासन की व्यवस्था स्वीकार कर लेते थे।

धर्मशास्त्र के निर्माता मनु ने वैदिक सिद्धांतों का अधिक स्पष्ट वर्णन किया। अनेक योनियों में भ्रमण करते समय जो पाशविक वृत्ति संस्कार रूप में मनुष्य ने एकत्रित करके अपनी गुप्त चेतना में धारण कर ली है, उन आदतों को अधर्म या पाप ठहराया गया। जहाँ कहीं भी अधिक स्वादिष्ट हरियाली मिलती है पशु उसे चर लेता है, पर मनुष्य में आई हुई इस वृत्ति पर नियंत्रण करना आवश्यक हो गया। इसलिए यह नियम बना कि अपनी कमाई हुई वस्तु का ही उपयोग किया जाए। दूसरों की कमाई हुई वस्तु का उपयोग दूसरों को नहीं करना चाहिए। 'चोरी मत करो ।' धर्मशास्त्र की यह आज्ञा घोषित कर दी। पशुओं में पति-पत्नी प्रथा पर कुछ प्रतिबंध नहीं है। एक बलवान हिरन के झुंड में अनेक हिरनियाँ रहती हैं। आदिम युग में भी ऐसा ही स्वेच्छाचारी वातावरण था। गाय-भैंसों की तरह अपनी-पराई का भेद

न था। इससे समाज में गड़बड़ी मचती थी, बने घर उजड़ जाते थे। बलवान, स्वरूपवान, संपत्तिवान स्त्री-पुरुष विपरीत पक्ष को अधिक आकर्षित कर सकते थे। इससे परिवारों का स्थायित्व बड़ा डाँवाडोल रहता था। आज एक घर में पति-पत्नी साथ-साथ रह रहे हैं, कल न जाने किसका जी उचट जाए और दूसरे को झमेले में डालकर खुद अलग हो जाए। इस गड़बड़ी को रोकने के लिए 'व्यभिचार पाप है', मनुष्य को अपनी ही स्त्री से संतुष्ट रहना चाहिए। इस प्रकार छल, कपट, झूँठ, हिंसा, कटुवचन, कृतघ्नता, लूट, सताना, अपहरण, चुगली, छिद्रान्वेषण, क्रोध, लोभ, मोह, क्रूरता आदि को पाप घोषित किया गया। पाप का अर्थ है-त्याज्य कर्म, निंदित कर्म। जो कर्म पाप बताए जाते हैं असल में वे मनुष्य की पूर्वसंचित पाशविक वृत्तियाँ हैं जो हर घड़ी पुराने अस्तबल में भाग जाने के लिए रस्सा तुड़ाती रहती हैं। यदि उन्हें जरा भी अवसर, निर्भयता एवं स्वच्छंदता प्राप्त हो तो वे बिना आगा-पीछा देखे मनुष्य की सामाजिकता को नष्ट करके उसे पुनः पशु स्वभाव वाला अधार्मिक बना देती हैं।

अब पाठक समझे होंगे कि धर्मशास्त्र का मुख्य प्रयोजन क्या है? सारे धर्मशास्त्रों का मंथन कर डालिए। उनकी अनेक प्रथाओं का उद्देश्य यह है कि लोग अपने स्वार्थ को दबाए रहें, अपनी लालसाओं को उग्र न होने दें, पशु संस्कारों को नंगा होकर प्रकट न होने दें, क्योंकि इसके बिना समाज में सुख-शांति नहीं रह सकती। धर्माचरण के बिना सारा समाज क्लेशों, उपद्रवों, अत्याचारों, पीड़ाओं का घर बन जाएगा, कोई भी चैन से न बैठ सकेगा।

प्राचीन समय के व्यवस्थाकार बड़े सूक्ष्मदर्शी थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों की रचना की, नियम बनाए, आज्ञापत्र घोषित किए, पर साथ ही यह अनुभव किया कि यह शास्त्राचार बिना किसी कठोर नियंत्रण के चिरस्थायी न रहेगा। वासनाओं की प्रबलता के सामने यह सब धर्मतंत्र आँधी में पत्ते के समान उड़ जाएगा। पुस्तक में लिखा है-मनु महाराज

ने कहा है कि इतने मात्र से संतोष कर लेने वाले व्यक्ति इस सृष्टि में बहुत ही कम प्राप्त किए जा सकते हैं। शासन तो दंड और लोभ द्वारा ही संभव है। पशु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना हो तो दो ही उपाय हैं—या तो उसके मुँह के आगे दाना रखते जाइए और लोभ दिखाकर चाहे जहाँ ले जाइए या फिर लाठी फटकारते हुए चलाइए। रुचिकर स्थान से अरुचिकर स्थान को ले जाने का इनके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। लोभ या भय के कारण ही अरुचिकर कार्य किए जा सकते हैं। चाहे जहाँ से खा लेने का रुचिकर कार्य छोड़कर यदि चोरी न करने के लिए नियंत्रण में बँधने के लिए कहा जाय तो मनुष्य के लिए लोभ और भय दो ही मार्ग रह जाते हैं। संभवतः इन्हीं मनोवैज्ञानिक रहस्यों को भलीभाँति समझकर ब्रह्माजी ने ईश्वरवाद की स्थापना के लिए वेदों का महत्त्वपूर्ण साहित्य निर्माण करना आरंभ किया था।

❑

ईश्वरवाद का विश्लेषण

वैदिक ईश्वरवाद का विश्लेषण करने पर हम उसके अंतर्गत निम्न तत्त्वों का समावेश पाते हैं–"(१) ईश्वर हमारे गुप्त कार्यों और विचारों को भी जानता है, वह बहुत बल वाला है। (२) ईश्वर प्रसन्न होने पर भौतिक सुख–समृद्धियाँ और परलोक में स्वर्ग एवं मोक्ष देता है। (३) वह नाराज होने पर दैविक, दैहिक और भौतिक कष्ट देता है। (४) धर्माचरण और उपासना से वह प्रसन्न होता है, पापी और नास्तिकों पर अप्रसन्न रहता है।" अनेकानेक मंत्र, श्लोक, सूक्त इन्हीं चार धारणाओं के आस–पास चक्कर लगाते हैं अर्थात नाना प्रकार से इन्हीं चार बातों का प्रतिपादन, उपदेश करते हैं। अब हमें विचार करना चाहिए कि कैसी बुद्धिमत्तापूर्वक मानसिक शासन स्थापित करने की यह व्यवस्था है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से हमारे सब कामों को देखता है–यह शासन की अत्यंत व्यापकता के लिए है। देखा गया है कि पुलिस थाने के पास तो चोर लोग उपद्रव नहीं मचाते, पर जहाँ पुलिस की पहुँच कम और देर में होती है, वहाँ चोरियाँ–डकैतियाँ अधिक होती हैं। भरी हुई चलने वाली सड़कों पर तो लूट नहीं होती, पर निर्जन स्थानों में लुटेरों की खूब घात लगती है। प्रकाश की अपेक्षा अंधकार में अपराध अधिक होते हैं। इससे प्रतीत होता है कि दुष्टता भरे काम की अधिकता–न्यूनता इस बात पर निर्भर है कि चोर को कोई देखता है या नहीं, देखने वाला बलवान है या नहीं। बंदर किसी छोटे बच्चे को कमजोर समझकर उसके हाथ से रोटी छीन ले जाता है, पर बड़े आदमी की ओर बढ़ने में उसकी हिम्मत नहीं पड़ती, क्योंकि बंदर जानता है कि बलवान आदमी न सहज में रोटी छीनने देगा और डंडे से हड्डी–पसली तोड़कर रख देगा। ईश्वर अनंत बल वाला है, सर्वव्यापक है और पाप से अप्रसन्न होता है। इसका अर्थ दूसरे शब्दों में यह हो सकता है कि कोई हाथी जैसे बल वाला पुलिस का खुफिया

सिपाही हाथ में संगीन और हथकड़ी लिए अदृश्य रूप से हमारी निगरानी के लिए हर वक्त सिर के ऊपर उड़ता फिरता है। यह विश्वास जितना ही अधिक सच्चा, स्पष्ट और बलवान होता है उतना ही मनुष्य धर्मप्रिय बनता जाता है। उपर्युक्त विश्वास जितना ही संशयात्मक, अस्पष्ट, धुँधला और निर्बल होता है, उतनी स्वच्छंदता और दांभिकता बढ़ती जाती है, अपराधी मनोवृत्ति भी उसी मात्रा में बढ़ती जाती है। ईश्वरीय शासन नहीं है, संदेहात्मक है एवं निर्बल है, ऐसी मान्यता बढ़ने से अराजकता फैलती है। जब गदर होता है तब उपद्रवी लोग पूरी तरह स्वार्थ साधन करते हैं, क्योंकि उनका विश्वास होता है कि राजसत्ता नष्ट या निर्बल हो गई है, वह हमें दंड नहीं दे सकती है। हम देखते हैं कि ईश्वर-भक्त कहाने वाले लोग बड़े-बड़े पाप करते हैं। इनका मनोवैज्ञानिक हेतु यह है कि पाखंड की तरह लोगों को भुलावे में डालने के लिए, सस्ती वाहवाही लूटने के निमित्त वे लंबे-चौड़े तिलक लगाते हैं, कंठीमाला धारण करते हैं, रामधुन लगाते हैं पर मानसिक भूमिका के अंतर्गत ईश्वर की अत्यंत ही धुँधली सत्ता धारण किए रहते हैं। ऊपर की पंक्तियों में अदृश्य रूप से चौकीदारी करते हुए सिर पर उड़ने वाले पुलिस मैन के समतुल्य जिस कल्पना का उल्लेख किया गया है, वह चित्र तो उनके मन में बहुत ही धुँधला होता है, इसलिए मानसिक अराजकता के अँधेरे में उनकी पशु-प्रवृतियाँ मनमानी करती रहती हैं।

ईश्वरवाद का प्रथम सिद्धांत ही आधारभूत है। ऐसी घड़ी किस काम की जिसमें सुइयाँ ही न हों? बेपेंदी का लोटा भला किसकी प्यास बुझा सकता है ? वेद के जितने मंत्रों में ईश्वर संबंधी वर्णन है उनका अधिक भाग ईश्वर की महानता सूचक गुणों का गान है। उन गुणों में भी सर्वव्यापकता और बलशालीनता का उल्लेख अधिक किया गया है। प्रयोजन यह है कि मनुष्य के मस्तिष्क में यह चित्र बहुत ही साफ और सुदृढ़ बन जाय कि वह अनंत बल वाला, शंख,

चक्र, गदा जैसे कठोर दंड शास्त्रों से सुसज्जित ईश्वर, पाप से बहुत कुढ़ता है और हमारी चौकीदारी के लिए अदृश्य रूप से हर घड़ी साथ रहता है। जिसके मन में यह कल्पना चित्र जितना अधिक गहरा और श्रद्धा विश्वासमय है, वह उतना ही बड़ा आस्तिक है। जिसके अंत:करण में यह विश्वास जितना निर्बल है उतने ही अंशों में वह नास्तिक है।

चार सिद्धांतों में ऊपर कहा हुआ सर्वव्यापकता का सिद्धांत प्रमुख है। शेष तीन उसकी पूर्ति के लिए हैं। "प्रसन्न होने पर भौतिक सुख या मोक्ष देने" की बात में प्रलोभन का तत्त्व मौजूद है जो पशु स्वभाव को ललचाने के लिए आवश्यक है। धर्मग्रंथों का बहुत बड़ा अंश 'माहात्म्य' के वर्णन में लिखा हुआ है। गंगास्नान से पाप कट जाते हैं, सत्यनारायण की कथा सुनने से धन प्राप्त होता है, शंकर जी औघड़दानी हैं, वे खुश हो जाएँ तो मालामाल कर देते हैं, हनुमान जी रोगों और भूत-पिशाचों को मार भगाते हैं, तुलसीपूजन से लड़की को अच्छा दुलहा और लड़के को गुड़िया सी बहू मिलती है, ब्रह्मकुंड में स्नान करने से संतान होती है। हर एक तीर्थ का, व्रत-उपवास का, पुस्तक सुनने का, पढ़ने का, सत्संग का निदान छोटे से बड़े तक सभी उत्तम कामों के हिंदू धर्मग्रंथों में खूब बढ़े-चढ़े माहात्म्य लिखे मिलते हैं। वह सब मनुष्य के पशु स्वभाव को ललचाने के लिए हैं। बैल को घास के तृण दिखाते ले जाइए, वह आपके पीछे-पीछे चला चलेगा। छोटी मानस चेतना वालों के लिए प्रलोभन आवश्यक समझकर माहात्म्यों का उल्लेख करना धर्माचार्यों के लिए अत्यंत आवश्यक था, इसके बिना वह कार्य आगे न बढ़ता और गाड़ी रुक जाती। ईश्वर के संबंध में भी उन्हें इसी नीति का अवलंबन करना पड़ा।

तार्किक लोग अकसर यह कहते सुने जाते हैं-"भजन का कुछ माहात्म्य नहीं, भजन करने वालों को कोई ऐसी संपदा नहीं मिलती जो भजन न करने वालों को न मिलती हो। यदि मिलती है तो उसमें उनका कर्त्तव्य हेतु होता है भजन नहीं।" ऐसे महानुभावों से हमारा निवेदन है कि वे हर बात में तर्क न करें। 'दूध पीने से चोटी बढ़

जाएगी' ऐसा उपदेश माताएँ अपने पुत्रों को अधिक दूध पिलाने के लिए करती हैं। 'अमुक काम कर लाएगा तो तू राजाबेटा हो जाएगा,' ऐसे-ऐसे प्रलोभनों के द्वारा माताएँ अपने बालकों को आज्ञानुवर्ती बनाती हैं। यदि माताएँ इस मार्ग को छोड़कर अधिक दूध पिलाने के लिए बच्चों को समझाएँ-"दूध में अच्छे-अच्छे विटामिन, कैल्शियम, फास्फोरस, प्रोटीन आदि ऐसे तत्त्व हैं जो रक्त के श्वेत कीटाणुओं की वृद्धि करते हैं" तो यह उपदेश सत्य होने पर भी निरर्थक होगा। आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए यदि वे 'राजाबेटा होने' का प्रलोभन छोड़ दें और मनुस्मृति के श्लोक खोलकर धर्मोपदेश सुनाएँ एवं बच्चों को अल्पज्ञ होने के कारण माता की आज्ञा मानने से ही अधिक मानसिक विकास होता है, ऐसा उपदेश करें तो वह निरर्थक होगा। तार्किक कह सकते हैं कि माता झूँठ बोलती है। चोटी बढ़ने और राजाबेटा होने का प्रलोभन असत्य है। परंतु इतना कहने से ही काम न चलेगा। उन्हें वास्तविकता की पेचीदगी तक पहुँचना होगा। छोटे बच्चे का अविकसित मस्तिष्क लोभ के अतिरिक्त और किसी ढंग से प्रभावित नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार धर्माचार्यों ने भी धर्ममार्ग में बालबुद्धि, स्वल्प ज्ञान रखने वालों के लिए नाना प्रलोभनों से युक्त माहात्म्यों की रचना की। और कोई मार्ग भी तो उनके पास न था। इस प्रकार ईश्वर की कृपा से भौतिक सुख-संपत्ति एवं स्वर्ग मोक्ष प्राप्त करने का प्रलोभन रखा गया है तो कुछ अनुचित नहीं। 'कर्म करने से ही सुख मिल सकता है' ऐसी मान्यता रखने वालों से हमारा कुछ विरोध नहीं है। शास्त्र में 'ईश्वर' शब्द बहु अर्थवाचक है। कहीं-कहीं उसका अर्थ कर्म भी होता है। कर्त्तव्यवादी इस स्थल पर 'ईश्वर' शब्द का अर्थ कर्म करते हों तो हमें कोई आपत्ति नहीं है।

इसके बाद भय का नंबर आता है। अप्रसन्न होने पर ईश्वर नाना प्रकार के दंड देता है। यह प्रलोभन वाले उपर्युक्त भाग का दूसरा पहलू है। किसी भी कार्य के दो पहलू होते हैं-एक उजेला और दूसरा अँधेरा। ब्रह्मचर्य रखने से बलवान बनोगे-यह वीर्य रक्षा का उजेला

पहलू है। वीर्य नाश करने से रोगों से ग्रसित हो जाओगे-यह उसी सिद्धांत का अँधेरा पहलू है। विद्या पढ़ने से कितने सुख मिलेंगे जब यह बताया जाता है तो यह भी कहा जाता है कि न पढ़ने से बहुत अभावग्रस्त एवं दुखी जीवन बिताना पड़ेगा। इसी प्रकार जहाँ ईश्वर की प्रसन्नता से सुख मिलना कहा गया है, वहाँ उसका अँधेरा पहलू यह भी बताया गया है कि ईश्वर के नाराज होने से दुःख और कष्ट मिलते हैं। लोभ को उजेला पहलू कहा जाता है, भय उसका अँधेरा पहलू है । लोभ से आगे न चलने वाले पशु स्वभाव के लिए अंतिम मार्ग भय ही बच रहता है। धर्म आज्ञाओं पर न चलोगे तो ईश्वर नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से व्यथित कर डालेगा-यह भावना अधर्म पर चलने से रोकती है। यदि गहरा विश्वास जम जाय तो निस्संदेह जीवन की सारी क्रियाएँ उसी के अनुकूल होने लगती हैं। पानी में डूबने से मृत्यु हो जाती है, यह विश्वास सदैव गहरे पानी में जाने से सावधान करता रहता है। प्रत्यक्ष रूप से डूब मरने का अनुभव अपने को चाहे जीवन भर न हुआ हो, पर विश्वास अनुभव से भी प्रबल होता है। अनुभव को भूला जा सकता है, पर विश्वास का विस्मरण नहीं होता। भूतों का विश्वास अधिकांश में कल्पित होता है, पर उस अंधविश्वास से ही अगणित व्यक्ति सुख-दुःख का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, कितने ही तो उसी में उलझकर मर तक जाते हैं। निस्संदेह विश्वास बड़ी प्रबल शक्ति है। ईश्वर पाप का दंड देता है-यदि यह बात पूर्ण निश्चित हो जाए तो संगीन के पहरे में हथकड़ी लगा हुआ कैदी जैसे भलमनसाहत के साथ चलता है वैसा ही आचरण ईश्वरवादी को करना पड़ेगा।

चौथा तत्त्व यह है कि "धर्माचरण और उपासना से ईश्वर प्रसन्न होता है इसके विपरीत से अप्रसन्न।" धर्माचरण की बात हम उपर्युक्त पंक्तियों में विस्तारपूर्वक समझा चुके हैं कि तुच्छ स्वार्थ से, पशुवृत्ति से, सामाजिक जीवन की ओर बढ़ने के लिए धर्म का सारा

विधान है और उस विधान की रक्षा के लिए ईश्वरीय शासन की स्थापना है। इसलिए यह बात तो समझ में आती है कि धर्माचरण से ईश्वर प्रसन्न होता है, पर उपासना से प्रसन्न और निंदा से अप्रसन्न होने की बात सामने आने पर भारी संदेह उठ खड़ा होता है, क्योंकि इससे तो ईश्वर भी चापलूसी पसंद, पक्षपाती, नवाब प्रकृति का सिद्ध होता है। उसकी अलिप्तता, समदर्शीपन, निस्पृहता पर स्पष्ट आक्षेप आता है और वह भी साधारण मनोविकारी मनुष्य की सीमा में आ जाता है। इस संदेह का समाधान करने के लिए केवल शुष्क वाद-विवाद से काम न चलेगा, वरन हमें गहराई में उतरकर उस निमित्त का पता लगाना होगा जिसके कारण ईश्वर को उपासनाप्रिय स्वभाव वाला माना गया है। डॉक्टर हंटर ने अपने अनुसंधानों के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि "मूल वृत्तियों के विरुद्ध यदि कोई नया मार्ग निकालना हो तो उसके लिए बार-बार लगातार कठोर प्रयत्न करने से नई आदत डालनी पड़ती है। इस पर भी वह आदत इतनी निर्बल होती है कि यदि कुछ दिनों उसकी ओर से उदासीनता धारण कर ली जाए तो वह मिट जाती है। इसलिए ऐसी आदतों को सुरक्षित रखने के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहना पड़ता है।" यह अनादि सत्य वैदिक ऋषियों को भी ज्ञात था। उन्होंने सोचा कि ईश्वरीय सत्ता की सर्वांगीण व्यवस्था बना देने पर भी यह पशु-प्रवृत्तियों के मुकाबले में हलकी ही रहेगी और जरा भी ढील देने पर कठिनाई बढ़ जाएगी। इसीलिए नित्य कई-कई बार विशेष प्रेम एवं भक्ति के साथ मूर्तिपूजा के सहारे ध्यानमग्न होकर नित्य नैमित्तिक कर्मकांडों द्वारा ईश्वर की पूजा-उपासना करते रहने का आदेश किया गया। पतंग बनाई जाए, उसमें डोरी बाँधी जाए, हवा में उड़ाई जाए, फिर डोरी को हाथ में से छोड़ दिया जाए तो सारा प्रयत्न निरर्थक हो जाएगा। जब तक पतंग को हवा में उड़ाना है तब तक डोरी को हाथ में रखना चाहिए, उसकी गतिविधि का संचालन करना चाहिए। फौजी सिपाहियों को नित्य परेड करनी पड़ती है ताकि

वे उस शिक्षा को भूल न जावें वरन उसके अभ्यस्त बने रहें। धर्म की रक्षा के लिए ईश्वर का शासन बनाया गया, पर बिना नियमितता के वह शासन विधान कैसे चलेगा? चूँकि ईश्वरवाद नया शिक्षण है, स्वार्थों को जीव जानता है, पर ईश्वर के बारे में उसको मनुष्य योनि में ही ज्ञान मिला है। पुरानी आदत के मुकाबले में नई निश्चित ही कमजोर होती है। जंगली सुग्गा बेर-जामुन खाया करता है, पर सोने के पिंजड़े में दाख-अंगूर खाने का नया सुख ग्रहण करने के लिए पकड़ा जाना पसंद नहीं करता। पिंजड़े में उत्तम रहन-सहन मिलने पर भी वह फिर से उड़ जाने का यत्न किया करता है, पिंजड़े की तीलियों से लड़ते हुए भागने का उसका यह प्रयत्न नित्य ही देखा जा सकता है। यदि पिंजड़ा कमजोर हो तो संभव है कि नई सुव्यवस्था को ठुकराकर सुग्गा उड़ जाए, चाहे उसे जंगल में कष्ट ही क्यों न सहना पड़े! यही देवासुर संग्राम मनुष्य के मन में नित्य होता है। आगे बढ़ने और पीछे हटने की रस्सा-कसी खिंची रहती है। ढील पड़ते ही गुड़-गोबर हो सकता है। इसलिए ईश्वरवाद के आचार्यों ने इस बात पर बहुत जोर दिया है कि ईश्वर की नित्य उपासना करनी चाहिए। इसके बिना ईश्वरीय शासन पर विश्वास करने का लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। यही लाभ प्राप्त करना प्रसन्नता एवं उसे न प्राप्त करना उसकी अप्रसन्नता के अर्थों में कहा गया है।

हम मानते हैं कि ईश्वर निस्पृह है, उसे निंदा-स्तुति की आवश्यकता नहीं। परंतु यह भी मानना पड़ेगा कि नित्य की उपासना किए बिना ईश्वरीय शासन का विश्वास मन में बनाए रहना कठिन है। प्रसन्नता-अप्रसन्नता को आलंकारिक शब्दों में यहाँ इसी प्रयोजन से प्रयोग किया गया है। 'प्रसन्न होना-सुख देना, अप्रसन्न होना-दुःख देना' ईश्वर के इस कार्यक्रम पर हम मोटी बुद्धि से वाद-विवाद करके किसी ठीक निश्चय पर नहीं पहुँच सकते। यदि हम आज इसका भावार्थ यों समझें कि "ईश्वर उपासना से मनुष्य अपने पशु स्वभाव

को दबाए रहकर सुख-शांतिमय जीवन बिताता रह सकता है" तो यह अर्थ ठीक शास्त्रकार की आंतरिक इच्छा के ही अनुकूल होगा। माहात्म्यों का वर्णन करते समय प्रलोभनों का समावेश जिस दृष्टि से हुआ है, उसी दृष्टि से उपासना से ईश्वर के प्रसन्न होने और सुख देने का वर्णन है। मूल तात्पर्य इतना ही है कि ईश्वरीय विश्वासों को दृढ़ रखने का निरंतर अभ्यास रखना आवश्यक है जिससे धर्माचरण के लिए हमारे पूज्य पूर्वजों ने जो गूढ़ मानसिक रहस्यों के आधार पर ईश्वरवाद की महत्त्वपूर्ण व्यवस्था बनाई है, वह सुदृढ़ और सुव्यवस्थित बनी रहे।

❐

नास्तिक भी उपासना करें

नास्तिकैरपि कर्त्तव्योपासना परमात्मनः।
जीवनं पतनं याति यतोह्याराधनां बिना॥

–पंचाध्यायी

(नास्तिकैः) अनीश्वरवादियों को (अपि) भी (परमात्मनः) परमात्मा की (उपासना) उपासना (कर्त्तव्या) करनी चाहिए (यतोहि) क्योंकि (आराधनां) आराधना के (बिना) बिना (जीवनं) जीवन (पतनं) पतनावस्था को (याति) प्राप्त होता है।

पंचाध्यायी के उपर्युक्त श्लोक में दिव्य सत्ता की, ईश्वर की उपासना को आवश्यक बताया गया है। यहाँ प्रारंभ में ही अनेक संदेह उठ खड़े होते हैं। गणना की जाए तो संसार में इस समय एक-तिहाई से भी अधिक जनसंख्या ऐसी होगी, जो ईश्वर का अस्तित्व मानने से ही इनकार करती है। विज्ञान कहता है–"कसौटियों पर वर्तमान ईश्वर का ढाँचा खरा नहीं उतरा। विभिन्न संप्रदायों, पैगंबरों और भक्तजनों ने ईश्वर का जैसा वर्णन किया है, वह परीक्षा के समय अवास्तविक प्रमाणित हुआ। ईश्वरीय चमत्कारों की अनेक गाथाएँ, जो विभिन्न देश-जातियों में प्रचलित हैं, वे अतिरंजित, आलंकारिक एवं काल्पनिक ठहराई जा चुकी हैं। भजनमग्न सज्जनों का शारीरिक और मानसिक परीक्षण करने पर उनमें कोई विशेषता, महत्ता उपलब्ध नहीं हुई, जिसके आधार पर भजनमग्न होने की उपयोगिता स्वीकार की जा सके।"

वर्तमान युग के भौतिक, मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक विज्ञान को ही ऐसी आशंका हुई हो, ऐसी बात नहीं है। यह संदेह बहुत प्राचीनकाल से विद्यमान है। श्रुति, शेष, शारदा, ऋषि, मुनि सबने ईश्वर का यथासंभव वर्णन किया है, पर अंत में वे 'नेति' 'नेति' कहकर चुप हो गए। 'इतना ही नहीं अभी और है' इस स्वीकारोक्ति

का भाव यह है कि हमें उसकी पूरी जानकारी नहीं, हमारा जो ज्ञान है वह अधूरा है। मन, वाणी, बुद्धि से अतीत, अगम, अगोचर, अवैद्य बताकर शास्त्रकार अपनी मर्यादा को निष्कपट भाव से प्रकट कर देते हैं। प्रचंड तार्किक 'न्याय कुसुमांजलिकार' ने ईश्वर को तर्कों द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, पर उनने भी यह स्वीकार कर लिया है कि "इस बहाने कुछ हरिचर्चा कर रहे हैं, ईश्वर को सिद्ध करने का हमारा दावा नहीं है।" सांख्यकार ने भी स्वीकार किया है कि '**ईश्वरासिद्धेः**' अर्थात ईश्वर साबित नहीं हो सकता। देवताओं के गुरु बृहस्पति के मत से जो परिचित हैं, वे जानते हैं कि अपने युग के यह अद्वितीय विद्वान नास्तिक थे। चार्वाक मत उन्हीं की प्रेरणा से प्रचलित होने की चर्चा पुराणों में उपलब्ध होती है।

आज इस तर्क युग में जबकि बुद्धिसंगत तत्त्वों को ही आश्रय मिल रहा है, हर एक विचारवान व्यक्ति इस सोच-विचार में पड़ा हुआ है कि सचमुच ईश्वर कुछ है भी या यों ही एक हौआ बना चला आ रहा है। ऐसी दशा में किसी व्यक्ति को '**बाबा वाक्यं प्रमाणम्**' मानकर संतोष कर लेने के लिए नहीं कह सकते। ईश्वर है या नहीं ? है तो कौन है ? कहाँ है ? कैसा है ? इस संबंध में तर्क और प्रमाणों से परिपूर्ण चर्चा पाठक इसी लेखमाला के अंतर्गत अगले पृष्ठों में पढ़ेंगे। इस समय तो हमें केवल यही बताना है कि इस पेचीदगी के होते हुए भी पंचाध्यायी ईश्वर उपासना को आवश्यक क्यों बताती है? जब एक वस्तु के होने में ही संदेह है तो उसकी उपासना की बात कहना किस प्रकार युक्तिसंगत हो सकता है ?

उपर्युक्त श्लोक में ईश्वर उपासना का आदेश मनुष्यमात्र के लिए है। मनुष्यमात्र में अनीश्वरवादी भी आ जाते हैं, फिर सार्वभौम व्यवस्था तो वही हो सकती है, जिसे दोनों पक्ष स्वीकार करें। इसलिए हमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस श्लोक की विवेचना करनी होगी, जिसे अनीश्वरवादी भी स्वीकार करते हों। असल में तो यह आदेश उन्हीं

लोगों के लिए है, जो उपासना नहीं करते। करने वाले तो करते ही हैं उनके लिए तो कहना ही कुछ नहीं है। 'पढ़ने जाना चाहिए' यह उपदेश उन्हीं बालकों के लिए है, जो पढ़ने नहीं जाते। जो परिश्रम से पढ़ रहे हैं, उनके लिए तो यह शिक्षा कुछ विशेष महत्त्व नहीं रखती, क्योंकि वे तो पहले से ही उस पर अमल कर रहे हैं। अनीश्वरवादियों को उन्हीं के दृष्टिकोण से उपासना की उपयोगिता बताना यहाँ अधिक उपयुक्त होगा।

ईश्वर उपासना का मानसिक विश्लेषण करते हुए मन:शास्त्र के विशेषज्ञ डॉक्टर एटकिन्सन ने लिखा है-"भक्त के मन में भगवान के संबंध में अपनी मनोभूमि के अनुसार एक दिव्य कल्पनाचित्र होता है, उस चित्र में तन्मय होने के प्रयत्न को उपासना कहते हैं।" यह कल्पनाचित्र हर व्यक्ति के पृथक होते हैं, इसलिए श्रीविवेकानंद जी महाराज कहा करते थे कि हर व्यक्ति का एक अलग ईश्वर है। जो आधुनिक विद्वान देवताओं का अर्थ संत पुरुष नहीं करते उनका कहना है कि पुराने समय में जब भारत की आबादी तैंतीस करोड़ थी। हर व्यक्ति के मन में ईश्वर संबंधी धारणा एक-दूसरे से कुछ न कुछ भिन्नता लिए हुए होती है, इसलिए किसी कवि ने तैंतीस करोड़ स्वतंत्र देवताओं की बात कहकर, इसी आधार पर उनका अलंकारपूर्ण विस्तृत वर्णन कर दिया था, तभी से हिंदू जाति में तैंतीस करोड़ देवताओं की मान्यता को आश्रय मिला।

आइए, कुछ ईश्वर भक्तों को बुलावें और उनकी मानसिक स्थिति को जाँचें। एक हिंदू को लीजिए-भारतीय वेशभूषा में सुसज्जित, पूर्ण स्वस्थ, सुंदर, सद्‌गुणी, दयालु, न्यायी, सर्वशक्तिवान देवता की मूर्ति का मन ही मन ध्यान करता है। कृष्ण, राम, विष्णु, शंकर आदि के सुंदर चित्र जो बाजार में बिकते हैं, उन्हीं से मिलती-जुलती किसी मूर्ति की रचना उसने अपने मस्तिष्क के अंतर्गत कर रखी है। अब एक मुसलमान को लीजिए-उसके मन में खुदाबंद करीम का ऐसा चित्र

है, जो चौथे आसमान में फरिश्तों के कंधों पर रखे हुए तखत पर बैठा है, लंबी सफेद दाढ़ी, सुथना, टर्की टोपी, अचकन या ऐसी ही कुछ पोशाक है, गुणों में हिंदू के राम के समान यह भी सर्वशक्तिवान है। एक ईसाई को लीजिए–उसका गौड पूरा साहब बहादुर है, रंग का गोरा–चिट्टा, कोट–पतलून पहने हुए है। इसी प्रकार हबशियों का ईश्वर नंग–धड़ंग, काला–कलूटा, मोटे होठ वाला होगा। यदि बैल ईश्वर का ध्यान करता हो तो उसका ईश्वर एक अच्छे साँड़ जैसा होगा। इसी प्रकार यदि अन्य पशु–पक्षी ईश्वर का ध्यान करने में समर्थ होंगे तो वे अपनी ही विचार मर्यादा के अंतर्गत ईश्वर की रचना करते होंगे।

एक वैज्ञानिक इन सब मानसचित्रों की विभिन्नता पर विचार करता है तो वह समझ जाता है कि सब चित्र वास्तविक ईश्वर के नहीं हैं, क्योंकि सभी लोग जब उसे 'एक' और सर्वव्यापक मानते हैं तो यह आकृति भेद क्यों ? या तो सभी के ध्यान में दाढ़ी और टर्की टोपी वाला ईश्वर होना चाहिए या फिर बंशी बजाने वाला ही। पृथकता इस बात की घोषणा करती है कि यह रचना मानवीय कृति है। इसकी पुष्टि इसलिए भी हो जाती है कि गुण, कर्म, स्वभाव और विश्वास भी इन ईश्वरों के अलग–अलग पाए जाते हैं। खुदाबंद करीम कुरबानी की गायों को सफाचट कर जाते हैं, पर भगवान कृष्ण इससे नाराज और दुखी हो जाएँगे। हबशी का खुदा पीली चिड़ियों का अंडा पाकर आशीर्वाद देता है, पर बौद्धों का उपास्यदेव इसे स्वीकार न करेगा। ईश्वरीय धर्म पुस्तकें वेद, कुरान, बाइबिल, तौरेत, धम्मपद, जिंदाबस्ता में जो धर्मोपदेश हैं, वे एक–दूसरे से बहुत अंशों में विरुद्ध पड़ते हैं। ये सब प्रमाण इस बात के हैं कि भक्तों का उपास्यदेव एक कल्पित प्रतिमा है, जिसका निर्माण वह अपने ज्ञान, मर्यादा, आवश्यकता, इच्छा और कामना के आधार पर करता है। हाँ, एक बात में ये सब ईश्वर समान हैं कि वे भक्त से अधिक सशक्त हैं और उन ईश्वरों में सब योग्यताएँ मौजूद हैं, जिनकी कामना भक्त अपने लिए करता है।

इस मनोविश्लेषण के उपरांत यह जानना आसान हो जाता है कि यह वस्तु क्या है ? बीमारी के लक्षण मालूम हो जाने पर उसके कारण का परिचय प्राप्त करना कुछ विशेष कठिन नहीं रह जाता। लॉर्ड टाटनहम का मत है–"भक्त भगवान के जिस रूप का ध्यान करता है, वास्तव में वह उसका आदर्श है, मनुष्य क्या बनाने का प्रयत्न कर रहा है, यह उसके उपास्यदेव की आकृति, स्वभाव और शक्ति के आधार से जानना चाहिए। इष्टदेव से जितना अधिक प्रेम होगा, प्रगति उसी गति से होगी।" उनका तात्पर्य यह बताने का है कि जान या अनजान में जिस मूर्ति की उपासना मनुष्य करने लगता है, उसकी मानसिक चेतना उसी साँचे में ढलती चली जाती है। गीता का भी यही मत है– "प्रेतों को भजने वाले प्रेतों को, देवताओं को भजने वाले देवताओं को, मुझे भजने वाले मुझे प्राप्त होते हैं।" यह कथन भी उसी भाव का द्योतक है।

जो व्यक्ति जिस वस्तु को प्राप्त करना चाहता है, पहले उसका एक नकशा बनाकर तैयार करता है। इंजीनियर कोई बड़ी इमारत बनाते हैं तो उसका एक मॉडल बनाते हैं, व्यापारी नया व्यापार करते समय उसकी रूपरेखा बनाता है, सरकारें विधान बनाती हैं, बजट पास करती हैं, नेता योजना बनाते हैं तब उसके अनुसार काम होता है। विद्यार्थी जब निश्चय कर लेता है कि मुझे वैद्य बनना है, तब वह आयुर्वेद की पुस्तकें लाकर पढ़ना आरंभ करता है। यदि वह निश्चय न करे कि मुझे क्या बनना है और यों ही आज आयुर्वेद, कल मुनीमी, परसों लोहारी, अगले दिन सुनारी सीखे, जब जो मन में आए वह करे तो उसका प्रयत्न निष्फल चला जाएगा और कुछ भी लक्ष्य प्राप्त न कर सकेगा। यात्री आज पूरब, कल पश्चिम, परसों दक्षिण को नहीं चलता, वरन एक लक्ष्य बनाकर उसी पर कदम बढ़ाता है और निर्धारित योजना के अनुसार आगे बढ़ता जाता है।

ध्यानावस्था में जिस ईश्वर का प्रेमपूर्वक ध्यान करके उसमें तन्मय होने की भावना की जाती है, उसका मनोवैज्ञानिक रहस्य यह है

कि भक्त वैसा ही बनना चाहता है, जैसा कि भगवान की प्रतिमा उसके मस्तिष्क में है। श्रीकृष्णचंद्र का हथौड़ों से गढ़ा शरीर, कामदेव को लज्जित करने वाला सौंदर्य, कुवलियापीड हाथी को पछाड़ने वाला बल, असाधारण बुद्धि, योगेश्वर पदवी का तत्त्वज्ञान, सब कुछ करने में समर्थ यही सब योग्यताएँ उस ध्यानचित्र के अंतराल में निहित होती हैं, जिनका ध्यान करने वाला भी धीरे-धीरे वैसा ही बनता जाता है। गीता कहती है, "जो जैसा चिंतन करता है, वह वैसा ही हो जाता है।" सर स्कॉट ने कहा है, "यदि मुझे यह मालूम हो जाय कि अमुक व्यक्ति की भावना क्या है तो मैं बता दूँगा कि आगे चलकर वह क्या होगा ?" भृंग के सत्संग से कीड़े के भृंग बन जाने की जो किंवदंती प्रचलित है, वह कहाँ तक ठीक है अभी यह नहीं जाना जा सका, पर शत-शत मुखों से मन:शास्त्र के पंडितों ने यह स्वीकार किया है कि जो जैसा ध्यान करता है, वह वैसा ही हो जाता है। दिव्य गुणों से संपन्न कृष्ण का तीव्र संवेदना के साथ ध्यान करने वालों की योग्यताएँ उसी प्रकार की बनने लगेंगी। यह एक असंदिग्ध मनोवैज्ञानिक सचाई है, जिससे कोई इनकार नहीं कर सकता।

अनीश्वरवादी अपने विश्वास न बदलते हुए भी ईश्वर-उपासना से किस प्रकार आश्चर्यजनक लाभ प्राप्त कर सकते हैं, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

❐

ध्यानयोग का मर्म

यह बताया जा चुका है कि ईश्वर की जिस मूर्ति का भक्त लोग ध्यान करते हैं, वह अवश्य ही ध्यान करने वाले की योग्यताओं से अधिक सुसंपन्न होती है। इष्टदेव चाहे अलग-अलग क्यों न हों, पर वे सभी ईश्वर मनुष्य की अपेक्षा शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा सांसारिक दृष्टि से बहुत बलवान होते हैं। भगवान कृष्ण का कोई असली फोटो इस समय प्राप्त नहीं होता, इसलिए ध्यान करने के लिए जिन चित्रों की मानसिक स्थापना की जाती है, वह कल्पित ही मानने पड़ेंगे। एक ही देवता के अनेक भक्त अपने मन में देवता का ध्यान करते हैं, पर सबकी ध्यानमूर्ति में कुछ न कुछ अंतर होता है। इससे भी प्रकट है कि ये ध्यानचित्र कल्पित हैं, यदि वह असली होते तो सभी भक्त एक ही समान मूर्ति का ध्यान करते।

अनीश्वरवादी महानुभाव यह न समझें कि इन कल्पित चित्रों का ध्यान करने से कुछ फायदा नहीं है। ईश्वर के नाम से ही जो बिदकते हैं, उन्हें इन ध्यानमूर्तियों को 'ध्येय प्रतिमा' नाम दे लेना चाहिए। मनुष्य उन्नति करना चाहता है। हर किसी की इच्छा होती है कि मैं सुंदर, रूपवान, स्वस्थ, बलवान, बुद्धिमान, तेजस्वी, प्रतापी, ऐश्वर्यवान, असाधारण शक्तियाँ रखने वाला बनूँ। अब सोचना चाहिए कि सर्वतोमुखी उन्नति के मार्ग पर बढ़ने का कार्य किस प्रकार आरंभ किया जा सकता है। कोई भी कार्यकर्त्ता तभी कार्य आरंभ कर सकता है, जब अपने ध्येय की एक तसवीर अपने मन में खड़ी कर ले। सुनार एक सांचा तैयार करता है, चांदी पिघलाकर उसमें ढाल देता है, तब वैसा ही गहना बन जाता है। बिना सांचा बनाए रुपया ढालने की टकसाल का काम कैसे चलेगा ? इसलिए मनुष्य जैसा बनना चाहता है, अपने को वैसा ढालने के लिए एक सांचा तैयार करना पड़ेगा। यह

'ध्येय प्रतिमा' या ईश्वरीय ध्यानमूर्ति वह सांचा ही तो है।

शब्द के पीछे एक चित्र जुड़ा होता है। जैसे वर्णमाला का अक्षर 'ह' पर 'आ' की मात्रा 'हा,' 'थ' पर 'ई' की मात्रा 'थी' हाथी। यह दो अक्षर अपने आप में कुछ अर्थ नहीं रखते। किसी हिंदी न जानने वाले रूसी के सामने हाथी शब्द कहा जाए तो वह कुछ न समझेगा। पर हमारी मनोभूमि को यह पता है कि हाथी शब्द के पीछे एक विशालकाय जंतु विशेष का चित्र जुड़ा हुआ है। इसलिए हाथी शब्द को कहते ही वह विशालकाय जंतु स्मरण हो आता है। यदि यह सामने न आए तो वह निरर्थक है। मनुष्य चाहता है कि मैं सुंदर, सुडौल, ज्ञानवान, बुद्धिमान आदि बनूँ। इन इच्छित चित्रों के साथ भी एक-एक चित्र जुड़ा हुआ है। सुंदर शब्द कहते ही गोरा रंग, भरा हुआ गुलाबी चेहरा, रतनारे नयन, पतली नाक, मोती से दांत स्मरण हो आते हैं। अर्थात सुंदर शब्द के साथ जो चित्र जुड़ा हुआ है, वह दिव्य नेत्रों के सामने नाचने लगता है। आप अपने में जो उन्नति देखना चाहते हैं, जिन-जिन विशेषताओं की इच्छा करते हैं, इन सबका एक सम्मिलित चित्र अवश्य बन जाएगा। यदि इच्छा निर्बल हुई तो वह चित्र भी धुँधला, निर्बल, अस्थिर और उदासीन होगा। उन्नति की इच्छा जितनी प्रबल होगी, उतना ही चित्र अधिक स्पष्ट, सतेज, प्रकाशवान, स्थिर एवं उत्सुकतापूर्ण होगा। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका को अपने पास देखना चाहता है, उसकी यह इच्छा जितनी ही प्रबल होगी, उतना ही उसे प्रेमिका का ध्यान अधिक आएगा। प्रेयसी की सलौनी मूर्ति आँखों के आगे ही खड़ी रहेगी। सच्ची लगन से ही किसी वस्तु की प्राप्ति होती है। मनुष्य यदि उन्नत दशा को प्राप्त होना चाहता है तो यह कार्य यों ही लस्टम-पस्टम उदासीनता के साथ पूरा न होगा वरन दृढ़ विश्वास, सच्ची लगन, प्रेममय उत्सुकता के साथ एक ध्येय प्रतिमा बनानी होगी। आकांक्षा उस ध्येय को प्राप्त करने की लगन में लगी रहे और तन-मन से उसकी प्राप्ति का कर्त्तव्य करता रहे। कोलंबस की आकांक्षा भारतभूमि को तलाश करने के लिए व्याकुल हो रही थी और सर्वस्व

की बाजी लगाकर उसका तन-मन जहाज का संचालन कर रहा था। तब कहीं वह एक स्वर्णभूमि को खोज पाया। यदि यों ही बिना किसी तीव्र आकांक्षा के बिना किसी ध्येय प्रतिमा के समुद्र में जहाज चल देता तो सफलता प्राप्त नहीं कर सकता था।

हमारे पूर्वजों ने अत्यंत गहरे मानसिक तत्त्वज्ञान के आधार पर ईश्वर की सुंदर मूर्ति का ध्यान करने का पूजा-विधान बनाया है। अपनी नाना प्रकार की उन्नति का बोध कराने वाली एक मनमोहक प्रतिमा का ध्यान करना आवश्यक है। इस प्रतिमा के साथ ईश्वर का पवित्र नाम जोड़ देने से यह विशेषता हो जाती है कि वह प्रतिमा केवल भौतिक और सांसारिक उन्नति तक ही सीमित नहीं रहती, वरन आध्यात्मिकता के साथ सतोगुणी दिव्य वृत्तियों के साथ भी संबंधित हो जाती है। वह सांचा भौतिक और आध्यात्मिक दोनों उन्नतियों से युक्त हमारे भविष्य की रचना करता है। मनुष्य की मूलभूत प्रकृति उन्नति की ओर अग्रसर होने की है। कोई भी व्यक्ति उन्नति की इच्छा किए बिना रह नहीं सकता। इसलिए उन्नत भविष्य की एक रूपरेखा बनाना भी अनिवार्य है। विष्णुलोक, गौलोक, स्वर्ग, वहिश्त, हेविन आदि स्थान संबंधी कल्पना है तथा मुक्ति, स्वर्गप्राप्ति आदि अवस्था संबंधी कल्पनाएँ उसी ध्येय अवस्था की बोधक हैं, जिसकी प्राय: हर व्यक्ति इच्छा किया करता है।

ईश्वर को निराकार मानने वाले जो सज्जन परमात्मा का एक विशेष मूर्ति में ही होना स्वीकार करते हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे अपने मत को बदले बिना भी 'ध्येय प्रतिमा' का ध्यान करने के लाभों के संबंध में विचार करें और उसके अंदर जो बड़ा भारी लाभ छिपा हुआ है उसे ग्रहण करें। अनीश्वरवादी महानुभाव कहा करते हैं कि "हम पेशेवर धर्मध्वजी दुकानदारों के रिश्वती और खुशामदी खुदा को नहीं मानते।" अच्छा बाबा, उसे मत मानो। पर अपना उत्तम भविष्य ढालने वाले सांचे को तो मानो। अच्छा ठहरो ! कृष्ण को छोड़ो, हम तुम्हें ही कृष्ण बनाए देते हैं। शरीर ढीला करके, आँखें बंद

करके, पलथी मार के एकांत स्थान में बैठ जाओ। अपनी सूरत तो दर्पण में देखी ही होगी, उसका ज्ञान-नेत्रों में ध्यान करो, उसे उत्तम सांसारिक और आध्यात्मिक गुणों से सजा डालो। वर्तमान शरीर की सभी कमियों को हटाकर अपने लिए जैसा उत्तम शरीर चाहते हो, उन सबसे अपनी तसवीर की सजावट कर डालो। बस, यही ईश्वर की तसवीर हो गई, इसी का ध्यान किया करो। इस मूर्ति से तुम्हारा जितना प्रेम होगा, उतना ही तुम भृंग-कीट की तरह उस आदर्श प्रतिमा में तल्लीन होते जाओगे और वह आध्यात्मिक तल्लीनता इतनी महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी कि बहुत अंश में तो वे इच्छाएँ इसी जन्म में पूरी हो जाएँगी। मजाक की बात नहीं है, यह आध्यात्मिक ध्रुव सत्य है। हिरन के बच्चे में अधिक प्रेम होने पर जड़ भरत के दूसरे जन्म में हिरन होने की कथा महाभारत में मौजूद है। तुम्हारी आकांक्षा जिस स्थिति को प्राप्त करने में पूरी तत्परता से जुड़ी हुई है, कोई कारण नहीं कि एक-दो जन्मों में ही वह पूर्णता प्राप्त न हो जाए। ध्यान प्रतिमा की भक्ति का अतुलित प्रताप है। इस महान सत्य को विज्ञान की कसौटी पर जितना कसा जाता है, उतना ही वह अधिक खरा साबित होता जाता है।

केवल ध्यान करने में कुछ नहीं होता, यह समझना भूल है। ध्यान आरंभिक सीढ़ी है। आदर्श का निर्माण होते ही शरीर और मन सारी शक्तियों से उसे प्राप्त करने में लग जाता है और दृश्य एवं अदृश्य लोकों से सफलता के लिए ऐसे-ऐसे विचित्र साधन सूक्ष्म तत्त्वों की सहायता से जुटाने लगता है, कभी-कभी तो वे सहायताएँ चमत्कार जैसी जान पड़ती हैं। कई बार भगत लोग बड़े आलसी, दरिद्री, अकर्मण्य, दुर्गुणी तथा अवनति की ओर गिरते देखे जाते हैं। यह भगत लोग असल में भक्ति की झूठी विडंबना करते हैं, उनका भगतपना पेट पालने का या सस्ती वाहवाही लूटने का एक जरिया है। सच्चा ध्यानयोगी ईश्वर की पवित्र मूर्ति में अपने को तल्लीन कर देता है, अथवा यों कहें कि आत्मोन्नति की जो सबसे ऊँची, सर्वगुणसंपन्न ध्येय प्रतिमा बनाई है, उसके साथ तदाकार होने के लिए प्रेमपूर्वक

विह्वल हो जाता है। भक्ति का सच्चा तत्त्व यही है। भक्ति का महाविज्ञान इतना सत्य है कि उसके प्रत्यक्ष परिणाम को चाहे जो अनुभव कर सकता है। आप कैसे बढ़ना चाहते हैं? उसका एक मजबूत नकशा बनाकर उसमें विफल होने के लिए प्राणपण से तल्लीन हो जाइए। फिर कुछ ही दिनों में भक्ति का जादू देखिए, आपकी काया पलट हो जाएगी। काफिला कहीं का कहीं पहुँच जाएगा। आपकी जीवन दशा में आश्चर्यजनक लौट-पलट हो जाएगी। भक्ति द्वारा उत्पन्न हुआ आत्मोन्नतिकारी प्रचंड विद्युत प्रवाह नस-नस में दौड़ने लगेगा। लालटेन के ऊपर जिस रंग का काँच लगा दिया जाए उसी रंग की रोशनी होने लगती है। जैसा जीवन ध्येय निश्चित हो जाता है, उसी के अनुरूप शरीर के कार्य और मन के कार्य दिखाई देने लगते हैं।

पेशेवर भगत लोग भक्ति का कैसा विकृत और नाशकारी रूप बनाए बैठे हैं, इस संबंध में पाठक स्वयं ही सब कुछ जानते हैं। इस गड़ी हुई दुर्गंधि को उखाड़कर बदबू उड़ाने की इस समय हमारी इच्छा नहीं। इन पंक्तियों में तो हमने भक्ति के सच्चे तत्त्वज्ञान, ध्यानयोग के गुप्त रहस्य पर प्रकाश डालते हुए यह बताने का प्रयत्न किया है कि अपने लिए निर्धारित किए हुए उच्च आदर्श एवं उन्नत भविष्य की ध्येय प्रतिमा बनाना, मानसिक चित्र निर्माण करना आवश्यक है। ईश्वर को मानने वाले या न मानने वाले सभी व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि ध्येय प्रतिमा का ध्यान किया करें। मनोविज्ञान शास्त्र की दृष्टि से यह व्यापार कल्पवृक्ष के समान मनोवांछाएँ पूरी करने वाला सिद्ध होगा।

❐

पूजा का मर्म

यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि पूजा-उपासना का प्रयोजन ईश्वर को प्रसन्न करना नहीं, वरन आपकी उन्नति करना है। ईश्वर निंदा-स्तुति से प्रभावित नहीं होता। पूजा-उपासना की जो वेदियाँ बनी हुई हैं, वे ईश्वर को खुश करने के लिए नहीं हैं, वरन उन उपासना-वेदियों के आधार पर आत्मोन्नति की एक सुंदर व्यवस्था बनाई गई है।

देवमंदिरों का निर्माण हमारे पूजनीय पूर्व पुरुषों ने एक सार्वजनिक धर्म संस्था के रूप में किया था। आजकल जनता की सुख-शांति के लिए सरकारी, अर्द्धसरकारी, गैरसरकारी अनेक संस्थाएँ स्थान-स्थान पर होती हैं। चिकित्सालय, पुस्तकालय, पाठशाला, व्यायामशाला, पूजाग्रह, कथा, सत्संग,गीत, वाद्य, मनोरंजन आदि के लिए अलग-अलग संस्थाएँ बनाई जाती हैं और उनके लिए स्थान का, पैसे का पृथक-पृथक प्रबंध होता है। प्राचीनकाल से यह सब व्यवस्थाएँ एक ही स्थान पर होती थीं। मंदिर संस्था का निर्माण बहुत ही सुदृढ़ आधार पर होता था, इसलिए स्थानीय जनता की अनेक सार्वजनिक आवश्यकताओं की पूर्ति का प्रबंध कर लेती थी। धर्म और ईश्वर का संबंध मंदिर संस्था से स्थापित कर देने से पुण्य-लाभ होने की धारणा बना देने से, आर्थिक व्यवस्था अपने आप हो जाती थी। आजकल की तरह सार्वजनिक कार्यों के लिए घर-घर चंदा माँगने की आवश्यकता नहीं होती थी, वरन वहाँ के निवासी अपनी मंदिर संस्था के लिए स्वयं ही दान दिया करते थे। विवाह, पुत्रजन्म, व्यापार-लाभ आदि खुशी के अवसरों पर मंदिरों को भरपूर दान दिया जाता था। व्रतोत्सवों के समय भी मंदिरों में विशेष दान देने की प्रथा थी। साधारण अवसरों पर भी कुछ न कुछ दिया ही जाया करता था। इस तरह मंदिरों के पास स्वेच्छा से आया हुआ धन पर्याप्त मात्रा में जमा रहता था। सुरक्षित

पूँजी को मूर्ति के जेवरों के रूप में रख दिया जाता था।

पवित्र एवं सार्वजनिक जीवन के लिए अत्युपयोगी मंदिर का संचालन यों ही किसी ऐरे गैरे नत्थू खैरे नौकर के हाथ में नहीं सौंप दिया जाता था, वरन विद्वान, सदाचारी, धर्मवान, सुयोग्य ब्राह्मण को मंदिर संस्था का संचालक नियुक्त किया जाता था। महंत जी या पुजारी जी का पद अत्यंत ऊँचे गौरव का था। इस महान उत्तरदायित्व को बहुत ही सुयोग्य धर्मसेवी सज्जन ग्रहण करते थे। उनकी अन्न-वस्त्र संबंधी जीविका मंदिर में आए हुए दान के कुछ भाग से चल जाती थी। जीविकोपार्जन की चिंता से मुक्त होकर वे अपने यजमानों की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए निरंतर प्रयत्न करते रहते थे। एक भी यजमान का अशिक्षित, रोगी, अधर्मी, अविवेकी होना पुजारी जी, पुरोहित जी के लिए लज्जा की बात थी। पाप-पुण्य में पुरोहित दशवें अंश का साझी माना गया है। क्योंकि यजमान तो पुण्याचरण करता है, परंतु उसमें ऐसी सद्बुद्धि उत्पन्न करने के लिए तो पुरोहित ने ही बहुत समय तक परिश्रम किया था, इसलिए दशवें अंश का पुण्य-पुरोहित को मिलना आवश्यक है। यदि यजमान पाप करता है तो इसमें पुरोहित की कर्त्तव्यहीनता, अयोग्यता, निर्बलता सिद्ध होती है। उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेकर उसे पूरा न करना भी तो अपराध है। इस दृष्टि से यजमान के पाप में पुजारी जी को भी दशवें भाग का भागीदार बनना पड़ता है। पुरोहित, पंडित, पुजारी, गुरु आदि कई श्रेणियाँ आजकल दिखाई देती हैं। पूर्वकाल में यह सब एक ही तत्त्व था। जहाँ कार्य बहुत अधिक बढ़ जाता था, वहाँ कई व्यक्तियों को अलग-अलग कार्य सौंप दिए जाते थे, जहाँ थोड़ा काम होता था, वहाँ एक ही सज्जन सब काम पूरा करते रहते थे।

संस्था के संचालन में स्थान, कर्मचारी तथा आर्थिक आय की आवश्यकता होती है। मंदिर का भवन, महंत एवं चढ़ावा (दान) के रूप में उपर्युक्त तीनों ही व्यवस्थाओं का सुंदर समन्वय हुआ है। नगरों

में, मुहल्लों में, कसबों में, गाँवों में हम मंदिरों का अस्तित्व पाते हैं। मानव जीवन को सुख-शांति के ढांचे में ढालने वाली इन संस्थाओं को अत्यंत उपयोगी समझकर विवेकशील धर्मपुरुषों ने इनका अधिक से अधिक संख्या में विस्तार किया था। 'पाठशालाओं की वृद्धि हो' इस आवश्यकता को इस समय हर समझदार व्यक्ति अनुभव करता है। उस समय यह आवश्यकता अनुभव की जाती थी कि अक्षरज्ञान के साथ-साथ शारीरिक एवं मानसिक उन्नति की क्रियात्मक सुदृढ़ शिक्षा देने वाली मंदिर संस्थाओं की वृद्धि हो। इसलिए मंदिर बनाना, बनवाना उच्चकोटि का धर्मकार्य गिना गया है। सचमुच ऐसे उपादेय, आदर्श एवं जनता का पथ प्रदर्शन करने वाली धर्म संस्था का निर्माण करना ऊँचे दरजे का पुण्य कार्य ही कहा जाना चाहिए।

मंदिर संस्था के अंतराल में मूल उद्‌देश्य जनता की शारीरिक और मानसिक उन्नति के लिए जबरदस्त पथ प्रदर्शन करना था। उसका स्थानीय रूप ऐसा बनाया गया था कि जनता की अटूट श्रद्धा, उन पर बनी रहे। पूजनीय अवतारी महापुरुषों की मूर्तियाँ, ईश्वरीय शक्तियों की तसवीरें, मानव जीवन के उच्च आदर्श की ध्येय प्रतिमाएँ उन मंदिरों में पधराई जाती थीं, जिन्हें देखते ही दर्शकों के हृदय में श्रद्धा का संचार हो। 'महंत जी के अन्नदाता हम हैं' ऐसा अहंकार किसी यजमान के मन में न आने पावे और 'मैं दूसरों के दिए हुए टुकड़े से पेट पालता हूँ' ऐसी लज्जा पुजारी अनुभव न करे, इसलिए एक मध्यवर्ती मार्ग निकाला गया, वह था-मूर्तियों को भोग लगाना। देख लिया जाता था कि मंदिर में कार्य करने वाले कितने व्यक्ति हैं, उनकी आवश्यकता पूर्ति के योग्य भोजन मूर्तियों के भोग के लिए तैयार होता था और प्रसाद के रूप में महंत जी उसे ग्रहण करते थे। यजमान समझते थे ईश्वर को भोग लगाया जा रहा है, महंत जी समझते थे कि ईश्वर का प्रसाद खा रहे हैं। इस प्रकार उस अहंकार और लज्जा की जड़ को ही काट दिया गया। जब अन्न समाप्त होने को हो तो

पुजारी जी भी बिना संकोच के कह सकते थे कि भाई अब ईश्वर के भोग के लिए अन्न चाहिए। यजमान भी चिंता करते थे कि कहीं ऐसा न हो कि ईश्वर की मूर्ति भूखी रह जाए। इस प्रकार ईश्वर को मध्यस्थ बनाकर महंत जी के जीवन निर्वाह का उत्तम प्रबंध किया गया था। 'भोग लगाना' इस प्रक्रिया के अंतर्गत मंदिर संचालक की निर्वाह व्यवस्था छिपी हुई है।

उस समय आज की तरह घड़ियाँ नहीं थीं। धूप घड़ी, जल घड़ी, बालू घड़ी आदि का प्रबंध मंदिर में रहता था। आजकल बड़े नगरों में सरकारी घंटाघर बने हुए हैं, जहाँ जनता की जानकारी के लिए घंटा बजाया जाता है। प्राचीन समय में प्रातःकाल उठ बैठने, दोपहर को भोजन करने, रात को काम बंद करने तथा सो जाने के समय मंदिरों में आरती आदि का घंटा बजता था। उसे सुनकर सब लोग सहज ही समय जान लेते थे। पत्थर की मूर्ति को जगाने के लिए घंटा नहीं बजता था वरन शंख, झालर बजाने का उद्देश्य जनता को समय की जानकारी करा देना होता था। श्रद्धा भावना जाग्रत रखने के लिए एवं रुचि बढ़ाने के लिए कभी-कभी मूर्तियों की कुछ पूजा-अर्चा भी आवश्यक समझी जाती थी तो पुष्पांजलि, दीपदान, शृंगार आदि की भी थोड़ी-बहुत व्यवस्था हो जाती थी। इस तरह मंदिरों में लोकसेवा के साथ-साथ कुछ स्थानीय आकर्षण सजाव-शृंगार भी होता रहता था।

भारतीय मनोवृत्ति सदा से अलंकारप्रिय रही है। छायावादी, रहस्यवादी विचारधारा को स्वीकार किया गया है। सत्य को रूखे और नंगे रूप में रखने की अपेक्षा उसे शिव और सुंदर बनाने पर अधिक जोर दिया गया है। सत्यं शिवं सुंदरं यहाँ की विशेष रुचि रही है। शारीरिक और मानसिक उन्नति के सीधे-साधे नियमों में भी रहस्यवाद को सम्मिलित करके उन्हें अधिक सुंदर बनाने का प्रयत्न किया गया है। स्नान करने से शरीर का मैल छूट जाता है और स्वास्थ्य वृद्धि होती है-यह सीधी सी बात है, परंतु उसे भारतीय धर्मवेत्ताओं ने इस रूप से

रखा है कि स्नान से धर्म-लाभ होता है। उपवास करना उदर शुद्धि के लिए उत्तम नियम है, यह सर्वविदित बात है। इसी को आचार्यों ने इस प्रकार कहा है कि उपवास से स्वर्ग-लाभ होता है। ईश्वर को प्रसन्न करने के नाम पर तीर्थयात्रा, हवन, यज्ञ, दान, तप आदि शुभ कर्मों का माहात्म्य वर्णन किया गया है। तत्त्वज्ञानी लोग यह मानते रह सकते हैं कि इन सब कार्यों का ईश्वर से कोई संबंध नहीं, यह तो अपने लाभ की बातें हैं। परंतु इससे तीर्थयात्रा आदि शुभ कर्मों के माहात्म्य में कमी नहीं आती। आयुर्वेद शास्त्रों में लिखा है कि सौ योजन पैदल चलने से जंघाओं के स्नायु सुदृढ़ हो जाते हैं और प्रमेह रोग अच्छा हो जाता है। तीर्थयात्रा में जाने से स्नायुओं की दृढ़ता, रोग की निवृत्ति, स्वास्थ्यकर स्थानों में विश्राम, तीर्थवासी विद्वान, धर्मप्रचारकों का सत्संग, यह सब क्या कम लाभ की बातें हैं? इतने लाभ को 'ईश्वर की प्रसन्नता का फल' कहने में कुछ अत्युक्ति नहीं है। हिंदू धर्म में ईश्वर के नाम पर जो भी उत्तमोत्तम सिद्धांत प्रचलित किए गए हैं, वे सभी हमारे प्रत्यक्ष लाभ के लिए हैं। कथा-पुराण कहने-सुनने से ईश्वर प्रसन्न होता है। सदुपदेशों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करना इतना महत्त्वपूर्ण है कि उससे जीवन में असाधारण दैवी परिवर्तन हो सकता है। क्या इतने बड़े लाभ को ईश्वर की प्रसन्नता नहीं कहा जा सकता ?

रहस्यवादी आलंकारिक ढंग से शरीर और मन की उन्नति करने वाले कार्यों को ईश्वर को प्रसन्न करने वाला बताया गया है। इसका तत्त्व अर्थ यह है कि इन कार्यों से मनुष्य का व्यक्तिगत एवं सामूहिक प्रत्यक्ष लाभ होता है। ईश्वर निस्पृह है, उसे निंदा-स्तुति की कुछ भी परवाह नहीं है। अग्नितत्त्व न तो किसी पर प्रसन्न होता है और न किसी से नाराज। जो व्यक्ति अग्नि संबंधी नियमों को अच्छी तरह जानते हैं और उनका ठीक उपयोग करते हैं, वे अग्नि की सहायता से अनेक लाभ उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों को भंग करते हैं, वे जल जाते हैं या अन्य प्रकार से हानि उठाते हैं। जो अग्नि के नियमों से लाभ

उठाता है, वह दूसरे शब्दों में यों कह सकता है कि अग्नि की कृपा मुझ पर है जो अग्नि के नियमों को तोड़कर जल मरता है, वह समझता है कि अग्नि का मेरे ऊपर प्रकोप है। असल में अग्नि किसी पर प्रसन्न या अप्रसन्न नहीं है, निंदा-स्तुति से वह प्रभावित नहीं होती। ईश्वर भी ऐसा ही समदर्शी और निर्विकार है। उसकी विशेष प्रसन्नता या अप्रसन्नता किसी पर भी नहीं होती। ईश्वरीय नियमों का पालन करने और तोड़ने वाले अपने आप उस पर कृपा और अकृपा को अपने ऊपर खींच बुलाते हैं।

मंदिरों, मठों और तीर्थों को ईश्वर का निवास स्थान कहा जाता है क्योंकि इन स्थानों के द्वारा वे कार्य होते हैं जिससे जनसेवा हो, जन-समाज के सुख-सौभाग्य में अभिवृद्धि हो। सत्य की ओर चलना, सात्विकी उन्नति की ओर अग्रसर होना जीव का धर्म है। धर्म का पालन करने से ईश्वर प्रसन्न होता है। पूजा-उपासना का तात्पर्य है कि हम स्वयं तीव्रगति से उन्नति की ओर कदम बढ़ावें और दूसरों को उत्थान-पथ पर अग्रसर करें। सारे धार्मिक कर्मकांड और पूजा के उपकरण उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए ही बनाए गए हैं। निर्विकारी, समदर्शी, निर्लिप्त, निष्पक्ष ईश्वर के साथ पूजा-प्रार्थना के संबंध जोड़कर भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने एक बड़ी ही मनोवैज्ञानिक चतुराई का परिचय दिया है। हम लोगों को इस अद्भुत समन्वय के लिए उन सूक्ष्मदर्शी आचार्यों की बुद्धि पर गर्व करना चाहिए।

❒

ईश्वर की प्राप्ति

ईश्वर है। उसे न मानने की अपेक्षा मानने में अधिक लाभ है। हमारी प्रत्यक्ष उन्नति में ईश्वर की मान्यता रखने से पर्याप्त सहायता मिलती है। मानसिक उन्नति की दृष्टि से ईश्वर को मानना उतना ही उपयोगी है जितना शारीरिक उन्नति के लिए उत्तम आहार-विहार का सेवन करना। ईश्वर को मध्यस्थ बनाकर सामाजिक व्यवस्था को सुख-शांतिमय, मानव जीवन को धर्मयुक्त एवं मानसिक विकास को अधिकाधिक उन्नतिशील बनाने का बहुत ही सुंदर प्रयत्न किया गया है। यह सब बातें पाठक पिछले पृष्ठों पर पढ़ चुके हैं। अब हमें तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर और आत्मा के संबंधों पर विचार करना है, और यह देखना है कि आत्मा को परमात्मा की समानता प्राप्त होने से क्या लाभ होता है ?

यह बताया जा चुका है कि आद्य बीजशक्ति ईश्वर की अनेक शक्तियाँ हैं। जड़जगत की रचना के लिए ईश्वर की जो शक्ति काम करती है उसे प्रकृति कहते हैं और चैतन्य जगत की रचना करने वाली शक्ति को जीव कहते हैं। इस प्रकार आद्यशक्ति का कार्य प्रकृति और जीव इन दो उपशक्तियों द्वारा आरंभ होता है। ईश्वर मानो एक शरीर है। जीव और प्रकृति उसके दो हाथ हैं। इन हाथों में से उँगलियाँ निकली हैं। प्रकृति शक्ति, पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश तत्त्वों में बँट जाती हैं फिर इनमें से एक-एक में से अनेक-अनेक उपशाखाएँ बँटती हैं और उन सबके संयोग-वियोग से सांसारिक पदार्थों का जन्म-मरण होता रहता है। इसी प्रकार जीव-शक्ति, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार इन चार उपभेदों में बँटती है और फिर एक-एक में से अनेक शाखा-प्रशाखाएँ उत्पन्न होती हैं। उन सबके कार्य-कलाप से चैतन्य जगत के दृश्य-अदृश्य, निर्बल-सबल प्राणी उत्पन्न और नष्ट होते

रहते हैं। संक्षेप में यों कह सकते हैं कि संपूर्ण जड़-चेतन शक्ति का कार्य-कलाप ईश्वरीय शक्ति की शाखा-उपशाखा उनका संयोग-वियोग मात्र है। जिस प्रकार दोनों हाथ, एक ही शरीर के दो भाग हैं उसी प्रकार जीव और प्रकृति दोनों ही ईश्वरतत्त्व के दो अंश हैं। संभव है कि ऐसे अंश तत्त्व और भी हों, पर इस समय तक मानव बुद्धि को इन दो प्रधान तत्त्वों का ही पता चल सका है।

इन पंक्तियों में हमें प्रकृति शक्ति के संबंध में विवेचन नहीं करना है। उसके लिए तो एक स्वतंत्र ग्रंथ चाहिए, यहाँ तो हमें जीव और ईश्वर के संबंधों पर ही कुछ विचार करना है। पाठकों को जानना चाहिए कि सूर्य और उसकी किरणों में जो संबंध है, वही संबंध ईश्वर और जीव में है। किरणों की शक्ति सूर्य से ही है। गरमी के दिनों में सूर्य पृथ्वी के निकट होता है इसलिए उसकी किरणें प्रचंड हो जाती हैं। अध्यात्मतत्त्व के जिज्ञासु जिस ईश्वर की उपासना करते हैं असल में वह उपासनीय ईश्वर अखिल आद्यशक्ति का सतोगुणी अंश है। ईश्वर सर्वव्यापक होने से सत्, रज, तम तीनों गुणों वाला कहा जाएगा। तम की उपासना करने वाले वैसा फल भी पाते हैं। रावण ने ईश्वर के तमोगुण की तपस्या करके वैसी ही सिद्धियाँ प्राप्त की थीं। एक चोर या डाकू मनोयोग के साथ चोरी-डकैती की साधना करे तो वह उनमें भी प्रवीण हो सकता है, परंतु यह साधना तमोगुणी होने के कारण मनुष्य जीवन की आवश्यकताओं के विपरीत है, अतएव अंत में हानिकारक ही सिद्ध होती है। इसलिए ईश्वर के सत् तत्त्व की उपासना का शास्त्रकारों ने आदेश किया है।

जीव अपने अंदर प्रचंड आकर्षण शक्ति धारण किए हुए है। प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और अभ्यास द्वारा अदृश्य लोक में से चाहे जिस प्रकार की शक्तियों को खींचकर अपने में प्रचुर मात्रा में भर सकता है। इसी प्रयत्न को उपासना कहा जाता है। अदृश्य अग्नितत्त्व को प्रकट करने के लिए दीयासलाई, ईंधन, हवा की आवश्यकता होती है। ईंधन

जितना अधिक होगा अग्नि उतनी ही प्रचंड होती जाएगी। ईश्वर का सत्व गुण अदृश्य रूप से हमारे निकट ही वर्तमान है। उसे अधिक मात्रा में खींचकर अपने अंदर भर लेने के लिए प्रेम, श्रद्धा, विश्वास और अभ्यास की आवश्यकता होती है। इन्हीं चारों के समन्वय को 'उपासना' कहा जाता है। उपासना जितनी ही प्रबल होगी आकर्षण भी वैसा ही सशक्त होगा और उसी के अनुसार उपास्य देवतत्त्व की प्राप्ति होगी। प्रेम, दया, करुणा, सहानुभूति, उदारता, त्याग, समता, न्याय आदि सद्‌गुणों का निष्ठापूर्वक जितना अधिक चिंतन किया जाता है, उतनी अधिक उनकी प्राप्ति होती है। उन्नति का क्रम तम से सत् की ओर चलना है। जिसने जितना ही सतगुण अपने में धारण कर लिया आध्यात्मिक दृष्टि से वह उतना ही उन्नतिशील कहा जाएगा।

ईश्वर को दयालु, करुणानिधान, दाता, समदर्शी, न्यायकारी, पतितपावन, उद्धारक, सहायक, सत्यनारायण, क्षमासिंधु, प्रेमधन आदि नामों से संबोधित किया जाता है। यद्यपि हत्या, व्यभिचार प्रभृति तामसी कृत्यों के मूल में ईश्वर की शक्तियाँ ही हैं, परंतु उसे हत्यारा, व्यभिचारी आदि शब्दों से कोई नहीं पुकारता। कारण स्पष्ट है कि मनुष्य को अपनी उन्नति के लिए सत्वगुणों की आवश्यकता है। तम की मंजिल तो वह पार कर चुका, उसे तो वह छोड़ रहा है। जिस अन्न-जल का आमाशय ने रस निकाल लिया तो वह मल-मूत्र के रूप में त्याग दिया जाएगा। शरीर-पोषण के लिए तो नवीन अन्न की आवश्यकता होगी। तमोगुण मनुष्य जीवन में विष्टा है। नीची योनियों से जिस शिक्षा को ग्रहण किया था उसे अब मनुष्य जीवन में तामसी समझकर विष्टा के रूप में अलग किया जा रहा है। मानवीय उन्नति तो सत्व गुणों से ही हो सकती है। इसलिए उन उच्च गुणों की एक मानसिक प्रतिमा बनाकर उपासना करने का विधान किया गया है। सिद्धांत है कि 'जहाँ चाह वहाँ राह' इच्छा से मार्ग मिलता है। **''जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू। सो तेहि मिलत न कछु सन्देहू॥''**

सच्चा प्रेम इच्छित वस्तु की प्राप्ति करा ही देता है। यदि एक भक्त सत् तत्त्व की उपासना करता है तो कोई कारण नहीं कि उसे वह वस्तु प्राप्त न हो जाए। स्मरण रखिए ईश्वर की उपासना का तात्पर्य उसके दिव्य सत् तत्त्व की आराधना है। श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, अभ्यास, जप-तप, ध्यान आदि प्रकारों से जीव को ईश्वरीय सत् तत्त्व में सराबोर किया जाता है। उस सराबोर होने में जो आनंदजन्य विह्वलता आती है उसे समाधि अवस्था कहते हैं। नाना विधि-विधानों से, अनेकानेक कर्मकांडों से संसार में ईश्वर की पूजा-उपासना होती हुई दिखाई देती है। उन सब का यही एक मर्म है कि जीव को ईश्वरीय सत् तत्त्व का अधिक से अधिक सामीप्य कराके अंत में वैसा ही बना देना है। जीव जब ईश्वरीय सत्ता की सर्वोच्च श्रेणी सत्व अवस्था में सराबोर हो जाता है तो उसके आनंद की सीमा नहीं रहती। अनंत आनंद में उसकी चेतना तल्लीन हो जाती है। सत्व गुण की इसी परिपूर्णता को ईश्वर की प्राप्ति कहते हैं।

❐

सोऽहं साधना

ईश्वर की उपासना के लिए आचार्यों ने 'सोऽहं साधना' को अत्युत्तम माना है। आप अपने लिए एक ध्येय प्रतिमा निर्धारित कर लीजिए। पुरानी भाषा में इसे यों कह सकते हैं कि एक इष्टदेव चुन लीजिए। राम, कृष्ण, शिव, विष्णु आदि की सुंदर-सुंदर तसवीरें बाजार में बिकती हैं। इनमें से अपनी रुचि के अनुसार कोई सर्वोत्तम चित्र छाँट लीजिए। यही आपका इष्टदेव है। इस चित्र को ऐसे स्थान पर रखिए, जहाँ बार-बार आपकी दृष्टि पड़ती हो। साधना के समय प्रातः-सायं इस चित्र को सामने रखकर बड़े ध्यानपूर्वक उसके एक-एक अंग को बहुत देर तक देखते रहा कीजिए। बीच-बीच में नेत्र बंद करके उस चित्र का ध्यान करिए। चित्र को आँखों से देखना फिर आँख बंद करके उसका ध्यान करना-इस क्रम को एक या दो घंटा नित्य जारी रखिए। कुछ दिन में ऐसा अभ्यास हो जाएगा कि नेत्र बंद करते ही वह चित्र मानस नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष खड़ा हो जाएगा अर्थात ध्यान में वह तसवीर ऐसी साफ दिखाई देने लगेगी कि मानो खुली हुई आँखों के सामने रखे हुए चित्र को ही देख रहे हैं। आरंभ काल में ध्यान प्रतिमा धुँधली होती है, पर प्रयत्न करने से वह धीरे-धीरे अधिक स्पष्ट होती जाती है।

इस चित्र में ईश्वरीय प्राण-प्रतिष्ठा कीजिए अर्थात ऐसी भावना कीजिए कि यह जड़ तसवीर नहीं, वरन सजीव देवता है। उसके अंदर शरीर और मन संबंधी सभी योग्यताएँ एक जीवित मनुष्य की भाँति मौजूद हैं। वह प्रतिमा सब कुछ सुनती है, जानती है और अनुभव करती है। उस मानसचित्र को जीवित देवता मान लेने के उपरांत अब उसमें गुणों, योग्यताओं और शक्तियों की स्थापना कीजिए। मनुष्य चाहता है कि मेरा शरीर सुदृढ़, गठीला, रक्त-मांस से भरा हुआ गौर वर्ण हो। बड़े नेत्र, लंबी नाक, भरा हुआ गुलाबी चेहरा, पतले हाथ, सुंदर दाँत-इस प्रकार जितनी ऊँची सौंदर्य की कल्पना आप कर

सकते हों, स्वस्थ सुगठित शरीर की उत्तम भावना जितनी आप स्थिर कर सकें, उतनी उस चित्र में आप सम्मिलित कर दें। शारीरिक दृष्टि से वे सब ऊँची कल्पनाएँ अपने इष्टदेव के साथ जोड़ दीजिए जिन्हें प्राप्त करने की आप आकांक्षा करते हैं। और भी खुलासा इस बात को यों समझिए कि कोई देवता आपसे प्रसन्न होकर यह वरदान माँगने के लिए कहे कि तुम जैसा अच्छा शरीर अपने लिए चाहो माँग लो। निस्संदेह उस समय तुम अपनी कल्पना को जितनी ऊँची दौड़ाकर स्वस्थ सुंदर, शरीर का होना सोच सकते हो वैसा शरीर माँगोगे। अपने इष्टदेव का ठीक ऐसा ही शरीर ध्यान करने का प्रयत्न करो। उसके एक अंश में मनमोहक सौंदर्य की भावना करो।

अब उस प्रतिमा के मानसिक गुणों की प्राण--प्रतिष्ठा करनी है। तामसी और राजसी गुणों को आप छोड़ दीजिए, क्योंकि उस मंजिल को तो आप पार कर चुके या बहुत जल्द कर चुकने वाले हैं। सत्व गुण अभी प्राप्त करना शेष है। इसलिए इष्टदेव में केवल सत्व गुणों की ही स्थापना कीजिए। प्रेम, दया, क्षमा, सहायता, सेवा, उदारता, त्याग, करुणा, प्रसन्नता, परमार्थ आदि सात्विक गुणों का समन्वय इष्टदेव में होना चाहिए। देवताओं में मनुष्य की अपेक्षा बहुत ऊँचे सात्विक गुण होते हैं। वे अत्यंत परमार्थी होते हैं, सेवा और सहायता उनके प्रधान कर्म होते हैं। इष्टदेव में इन सभी सद्प्रवृत्तियों की प्रचुरता आपको माननी चाहिए। स्मरण रखिए एक भी तामसी गुण की मान्यता इष्टदेव में न हो जाए वरन वे दुर्गुण भी आपको मिलेंगे। जो लोग अपने इष्टदेवों में चोरी, व्यभिचार, छल, मद्यपान, निर्दयता आदि दुष्टताओं का होना भी जोड़ लेते हैं, वे बड़ी भारी भूल करते हैं। लालटेन में लाल रंग का काँच लगा देने पर उसकी रोशनी भी लाल ही होती है, वैसे ही देवता में तामसी गुण जोड़ देने पर उसकी भक्ति से भी वही गुण प्रसाद रूप में मिलते हैं। इसलिए यदि आप इष्टदेव को राम, कृष्ण आदि महापुरुषों के रूप में मान रहे हैं तो उनके चरित्र में जो दोष थे उन्हें अपनी इष्ट प्रतिमा में भूलकर भी न आने दीजिए, अन्यथा बड़ी

भयंकर हानि होगी। कहते हैं कि उलटा मंत्र जपने से जप करने वाले को हानि होती है। इष्टदेव में तामसी गुण आरोपित कर देने पर अत्यंत ही घातक परिणाम उपस्थित होता है। ध्यान प्रतिमा के अंतर्गत सात्विक दैवी गुणों की ही मान्यता होनी चाहिए जिससे उनकी भक्ति पर प्रसाद स्वरूप वही गुण प्राप्त हो सकें।

मनुष्य की शक्तियाँ सीमित हैं। वह नियत मर्यादा तक ही क्षमता रखता है। उस मर्यादा से बाहर उसकी पहुँच नहीं है। यह सीमा बंधन उसे बहुत अखरता है। अष्टसिद्धि, नवनिद्धि का अर्थ उस बंधन से ऊँचा उठ जाता है। इष्टदेव की शक्तियाँ अनंत माननी चाहिए। इस प्रकार इष्टदेव की मानसिक स्थापना करके उसमें श्रद्धा और विश्वास सुदृढ़ करना चाहिए। ईश्वर सभी रूपों में है तो इस ध्यान प्रतिमा में क्यों न होगा ? कोई भी दृश्य-अदृश्य पदार्थ ईश्वरीय सत्ता के बिना बनना संभव नहीं है। मन ने जो यह श्रद्धा मूर्ति बनाई है निस्संदेह ईश्वर उसके अंदर समाया हुआ है। वह ईश्वरीय शक्ति से पृथक नहीं है। माना कि यह प्रतिमा पूर्ण ईश्वर नहीं है परंतु ईश्वरतत्त्व के उन अंशों का समूह अवश्य है जिन्हें हम अपने जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं और इच्छा करते हैं। कल्पित भूत प्राणघातक बन जाता है तो कल्पित प्रतिमा भी कल्पवृक्ष बन सकती है। कल्पना की हुई इष्टदेव की प्रतिमा निरर्थक नहीं है, वरन भक्ति-उपासना द्वारा उससे मनोवांछित लाभ उठाया जा सकता है।

सोऽहं साधना-सोऽहं साधना के लिए प्रातःकाल-सूर्योदय से पूर्व, प्रातःकाल अथवा दिन छिपे बाद संध्या का समय बहुत उत्तम है। फिर भी यह कोई प्रतिबंध नहीं है। यदि किसी अन्य समय शांतिदायक एकांत मिलता हो तो वह भी ठीक है। किसी एकांत और निर्विघ्न स्थान में आसन जमाइए। नेत्रों को बंद करिए और दोनों हाथों को गोदी में रख लीजिए। शरीर को इस तरह बिलकुल ढीला कर दीजिए कि किसी अंग पर अनावश्यक दबाव या तनाव न रहे। सीधी-साधी सरल स्थिति में शांत चित्त से बैठकर इष्टदेव का अपने मस्तिष्क

प्रदेश–ब्रह्मांड में ध्यान कीजिए। जब ध्यान प्रतिमा मानस नेत्रों के सामने प्रत्यक्ष हो जावे, तब सांस की चाल पर नासिका का नियंत्रण आरंभ कीजिए। सांस लेने और छोड़ने का ध्यान नासिका रखे। अध्यात्मवेत्ता जानते हैं कि नासिका द्वारा जब वायु भीतर जाती है तो 'सो' शब्द सीटी के समान बजता है और जब वायु बाहर निकलती है तो 'हं' ध्वनि होती है। हर सांस के साथ सोऽहं जप होता रहता है। कानों को नियुक्त करना चाहिए कि वे इन शब्दों को सुनें। जिह्वा श्वास–प्रश्वास के साथ–साथ सोऽहं शब्दों का उच्चारण करती रहे। इष्टदेव का नेत्रों का देखना और सोऽहं ध्वनि का नाक का अनुभव करना, कान का सुनना, जिह्वा का उच्चारण करना–यह सब मन–ही–मन होना चाहिए। बाह्य इंद्रियाँ तो अपना कार्य बंद किए रहें पर सूक्ष्म इंद्रियाँ उपर्युक्त साधना में लगी रहें।

अब स्पर्शेंद्रिय का काम शेष है। 'सो' ध्वनि के साथ इष्टदेव की प्रतिमा को ईश्वर मानना चाहिए और 'हं' ध्वनि के साथ अपने जीवन को उस प्रतिमा में प्रवेश कर देना चाहिए। जब तक 'सो' ध्वनि के साथ वायु नासिका द्वारा भीतर प्रवेश करे, तब तक तो इष्टदेव में ईश्वर की मान्यता करनी चाहिए, किंतु सांस छोड़ते समय 'हं' ध्वनि के साथ ऐसी भावना करनी चाहिए कि वर्तमान शरीर को छोड़कर जीव ध्येय प्रतिमा के शरीर में ही व्याप्त हो गया, नये जन्म का वही शरीर जीव को प्राप्त हो गया है।

उपर्युक्त साधना से सूक्ष्मशरीर की पाँचों इंद्रियाँ एवं मन काम में लग जाता है इसलिए वह एक ही स्थान पर आसानी से बना रहता है। अन्य ध्यानों में सूक्ष्म इंद्रियाँ खुली रहने के कारण मन को बार–बार उचटाकर ध्यान भंग कर देती हैं, पर इस अभ्यास में उन सबके लिए कार्य नियुक्त हैं इसलिए मन के उचटने का अवसर कम आता है। मन को वश में करने का, एकाग्रता संपादन करने का यह बहुत ही उत्तम तरीका है। विघ्नों को रोकने की प्रत्याहार क्रिया इसके साथ में अपने आप ही जुड़ गई है।

धारणा और ध्यान की विधियाँ ऊपर बताई गई हैं। इष्टदेव की स्थापना, उनमें सत् तत्त्वों की प्राण-प्रतिष्ठा करना यह 'धारणा' हुई। सूक्ष्म इंद्रियों द्वारा 'सोऽहं' जप के साथ इष्टदेव का स्मरण करना और उनके साथ अपने को संबंधित करने का प्रयत्न 'ध्यान' कहा जाएगा। एक ही मूर्ति में कुछ समय ईश्वर, कुछ समय अपना आत्मभाव अनुभव करने से तदाकारता, तल्लीनता एवं समीपता बढ़ती है। मानस-लोक में उस उन्नत अवस्था को प्राप्त करने का हम प्रयत्न करते हैं। आध्यात्मिक उन्नति के लिए यह साधना आश्चर्यजनक लाभप्रद होती है।

धारणा और ध्यान का साधन आरंभिक है। अभ्यास करने में यह क्रम ठीक प्रकार से दस-पाँच मिनट ही जारी रह सकता है। पीछे समाधि की छाया प्रकट होने लगती है। मन की जब आंतरिक श्रद्धा बढ़ने लगती है तो वह इष्टदेव में वास्तविक रस लेने लगता है। तब नासिका, कान आदि इंद्रियों का कार्य छूट जाता है, वे शिथिल होकर गिर पड़ती हैं। सांस का गिरना विस्मरण हो जाता है। केवल इष्टदेव का ध्यान रहता है और उसमें एकाकार होने की स्थिति प्रकट होने लगती है। जब साधक इष्टदेव में पूरे मनोयोग के साथ अपने को प्रवेश हुआ अनुभव करता है तो उसे उच्च शरीर और मन की प्राप्ति का स्वर्गीय अनुभव होता है। एक भिखारी को जैसे अचानक अपना मन चाहा सुख-सौभाग्य मिल जाए तो वह खुशी में फूला नहीं समाता, उसी प्रकार साधक जब अपनी इष्ट आकांक्षा की मूर्तिमान प्रतिमा अपने समीप स्थित पाता है तो वह आनंद-विभोर हो जाता है। भिखारी को जब खजाना मिलता है तो वह स्वर्णराशि को-रत्न-आभूषण को निरखता है और हर वस्तु को देखने के साथ-साथ नया आनंद प्राप्त करता जाता है। साधक दुर्बल शरीर के स्थान पर स्वस्थ, सुंदर शरीर प्राप्त हुआ ध्यान करता है तो उसके रोम-रोम में प्रफुल्लता की विद्युत धारा बहने लगती है। जब अपनी स्वार्थ बुद्धि के स्थान में दया, करुणा, उपकार भाव से आर्द्र दैवी मन को अपने अंतःकरण में भरा हुआ अनुभव करता है तो उसे उस क्षण देवताओं जैसी महत्ता,

गौरवशीलता अपने में अनुभव होती है। सात्विक तेज से, स्वर्गीय आनंद से उस समय आत्मा जगमगा उठती है और अनिर्वचनीय आनंद के प्रवाह में कुछ समय के लिए चेतना बह सी जाती है। यह प्रवाह बेहोशी, आत्मविस्मरण, तल्लीनता को ही समाधि-सुख कहते हैं। साधकों को अपने अभ्यास के अनुसार सोऽहं साधना द्वारा यह समाधि-सुख प्राप्त होता रहता है। मशीन के पुरजों में एक बार थोड़ा सा तेल पड़ जाने पर वे बहुत समय तक सरलतापूर्वक चलते रहते हैं। इसी प्रकार एक बार का समाधि-सुख बहुत घड़ियों तक जीवन में दिव्य भावनाओं का संचार करता रहता है।

पाठकों को यह अच्छी तरह याद रखना चाहिए कि ईश्वर निस्पृह और समदर्शी है, वह निंदा-स्तुति से प्रभावित नहीं होता, न भक्त-अभक्त का भेद करता है। खुश होकर किसी को सुख देना और नाराज होकर किसी को दुःख देना-ऐसा ईश्वर के यहाँ नहीं होता। उसने प्राणियों को कर्मफल की कठोर व्यवस्था के साथ बाँधकर उन्हें अपनी करनी का फल पाते रहने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया है। वह मनुष्यों की कर्म स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करता। फिर भी प्रार्थना-पूजा निरर्थक नहीं है। उपासना एक प्रकार का पौरुष है, मानसिक व्यायाम है जिसकी सहायता से हम उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं। व्यायामशाला के मुदगर निस्पृह होते हैं तो भी उनकी सहायता लेकर पुरुषार्थी पहलवान अपना शारीरिक बल बढ़ाते हैं। इसी प्रकार निस्पृह और निर्विकार ईश्वर की सहायता से मानसिक व्यायाम करके हम लोग अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकते हैं। प्रयत्न-पौरुष का फल अथवा ईश्वरीय कृपा एक ही वस्तु है। शब्द रचना दो प्रकार की है परंतु भावार्थ एक ही है।

❐

पाप प्रपंच

पिछले पृष्ठों पर दो ईश्वरों का वर्णन किया जा चुका है। एक ईश्वर तो आद्य बीजशक्ति जिसकी सत्ता से संपूर्ण जड़-चेतन जगत का निर्माण और संचालन हो रहा है। वह अग्नि एवं बिजली की तरह व्यापक है। उसके नियम इतने अटूट और सुदृढ़ हैं कि सारी व्यवस्था उन्हीं के आधार पर चलती रहती है। वह निंदा-स्तुति, पूजा-पत्री से परे है। नियमों का पालन करना ही उसकी पूजा है और नियम विरुद्ध चलना उसका विरोध है। पक्षपात और रिआयत नाम की गुंजाइशों के लिए उसके कठोर नियमों में रत्ती भर भी स्थान नहीं है।

दूसरा 'योग साधना' का ईश्वर है। यह भक्त के वश में है क्योंकि इस ईश्वर की रचना अपनी मानसिक शक्तियों द्वारा भक्त ने ही तो की है। मानसिक उन्नति के लिए, सत् तत्त्वों की प्राप्ति के लिए, धर्म नियंत्रण के लिए इस कल्पित ईश्वर का अधिक महत्त्व है। लोहा, सोना आदि धातुओं के बने बरतन जैसे दृश्य जगत में सत्य वस्तु की तरह प्रयोग होते हैं, वैसे ही अदृश्य जगत में मानसिक शक्तियों की धातु से गढ़ा हुआ ईश्वर भी सत्य वस्तु है। रबड़ की गेंद फेंककर दीवार पर मारने से वह गेंद लौटकर अपने ही पास वापस आ जाती है। कल्पित ईश्वर के निमित्त फेंकी गई सद्‌भावनाएँ लौटकर अपने ही पास वापस आ जाती हैं। उस प्रयत्न का अनेक गुना लाभ हमें प्राप्त होता है। यह एक मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष सचाई है।

इन दो ईश्वरों के अतिरिक्त एक तीसरा ईश्वर भी है। यह मतलबी लोगों द्वारा अपने अनुचित स्वार्थों की रक्षा के लिए बनाया गया है। इस ईश्वर के पीछे हर बदमाश-फिरके ने अपने-अपने मतलब की बात जोड़कर बेचारे सीधे-साधे लोगों को ठगने और दबाए रहने का प्रयत्न किया है। वैदिक सभ्यता 'अपरिग्रह' प्रधान है। वह साम्यवाद से एक कदम आगे है। साम्यवाद का सिद्धांत है कि समाज

में सब लोगों के पास समान पूँजी होनी चाहिए। किंतु वैदिक सभ्यता कहती है कि व्यक्ति को अपरिग्रही बनना चाहिए अर्थात जितना उसका हक है, जितना कमाने की वह योग्यता रखता है उससे भी कम उसे लेना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति के पास किन्ही कारणों से धन बढ़ने लगे तो उसे उस धन को तुरंत ही सत् कार्य में, निर्धनों की सहायता में लगा देना चाहिए। इस सिद्धांत का प्रतिनिधित्व इस दोहे में अच्छी तरह हो जाता है–

पानी बाढ़्यो नाव में, घर में बाढ़्यौ दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥

उपर्युक्त वैदिक धर्म को छोड़कर जब अमीर–उमराव अधर्मपूर्वक धन जमा करने लगे तो इस तीसरे दरजे के ईश्वर के पीछे यह सिद्धांत जोड़ा गया कि 'मनुष्यों को अमीर–गरीब ईश्वर बनाता है।' इस सिद्धांत का अमीरों पर तो कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, बेचारे गरीब मन मारकर रह जाते हैं। अपने शोषण पर और दुरवस्था पर इस भाग्यवाद की मान्यता के कारण गरीबों का असंतोष उभरने नहीं पाता और अमीर लोगों के मनमानी करने का मार्ग निर्बाध बना रहता है।

अमीरों ने जब उपर्युक्त सिद्धांत गढ़ा तो मध्यम श्रेणी के लोगों में खलबली मची। वे बिलकुल गरीब और भौंदू न थे, परंतु धनवान भी नहीं थे। विद्याबल और व्यापार द्वारा काम चलाते थे। अमीरों द्वारा ईश्वर के संबंध में एक लाभदायक सिद्धांत गढ़ा गया जिसे देखकर उनके मुँह में पानी भर गया। अंधेर के जमाने में उनने भी अपनी स्थिति मजबूत रखने के लिए एक सिद्धांत बना डाला कि "ईश्वर ने कुछ लोगों को ऊँच और कुछ को नीच बनाया है।" इस सिद्धांत के सहारे उनने अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाई और अशिक्षित, निर्धन तथा श्रमजीवी वर्ग के मन में हीनता के भाव भर दिए, जिससे वे अपने परिश्रम का कठोर फल इन कुलीन लोगों को देवता समझकर स्वल्प मूल्य में दे दें और उनका विरोध करने का साहस न करें।

तीसरा सिद्धांत बुद्धिजीवी किंतु अकर्मण्य लोगों द्वारा गढ़ा गया कि 'ब्राह्मण कौम में पैदा हुए मनुष्य को जितना पैसा दिया जाय उतना ही ईश्वर प्रसन्न होता है।' सदा से त्यागी, सदाचारी, उपदेशक, शिक्षक लोगों का सम्मान-सत्कार तो सर्वत्र ही होता है, पर इस सिद्धांत की आड़ में उन लोगों की रोजी की समस्या को हल किया गया जो विद्या, सेवा और कर्त्तव्य के कारण नहीं, किंतु एक परिवार विशेष में जन्म लेने के कारण ही मुफ्त में आदर और धन चाहते थे। गरीबों से उन्हें धन मिलने की विशेष आशा न थी। धन संचय तो अधिकतर अधर्म से ही होता है, इसलिए उन निठल्ले ब्राह्मणों ने ईश्वर के साथ एक और सिद्धांत जोड़ा, वह था कि "ईश्वर के नाम पर जो हमें देगा उसके पाप क्षमा हो जाएँगे।" कुकर्मियों के लिए बड़ा ही अच्छा स्वर्ण सुयोग था। वे धन इकट्ठा करके इस लोक में तो सुख भोग ही रहे थे, परलोक में पाप का दंड मिलने का भय था। वह चाँदी के कुछ टुकड़े फेंक देने मात्र से क्षमा हो जाएगा, तब परलोक में भी सुख ही सुख है। मनमानी वस्तु मिल गई, बड़ा सस्ता सौदा पटा। अंधे और कोढ़ी दोनों की जोड़ी मिल गई। एक चाहता था कि बिना परिश्रम किए मुफ्त का पैसा मिले, दूसरा चाहता था कि पापदंड से छुटकारा मिले। ईश्वर के नाम पर ब्राह्मणों की जेबें भरने से दोनों का ही प्रयोजन सिद्ध हो गया। दोनों पहियों की गाड़ी सरपट दौड़ने लगी। मंदिर, मठ, गद्दी, संप्रदाय,गुरुद्वारे धीरे-धीरे कुबेर के खजाने बनने लगे। उनकी आड़ में इंद्र के अखाड़े जमने लगे। ईश्वर को बंदर की तरह नचाने का दावा यह मदारी ब्राह्मण करने लगे। कहने भर की देर समझिए महंत जी जो कहें सो हुक्म बजा लाने के लिए ईश्वर को मजबूर होना पड़ता है। ऐसी लिखित और मौखिक मान्यताएँ फैलाकर उल्लू सीधा किया जाने लगा।

चौथा सिद्धांत एक और तैयार हुआ। इसे मानसिक रोगियों ने बनाया। जो व्यक्ति शारीरिक और मानसिक दृष्टि से बिलकुल अयोग्य

होते थे। हर बात में जिन्हें असफलता मिलती थी। महत्त्व प्राप्त करना तो चाहते थे परंतु बुद्धि साथ न देती, शरीर आलस्य को न छोड़ता,चारों ओर तिरस्कार ही तिरस्कार दिखाई पड़ता। उन्नति करने के सारे हौसले पस्त हो गए, करें तो क्या करें। कुछ बात समझ में ही न आती। ऐसी आवश्यकता ने ईश्वर संबंधी एक चौथे सिद्धांत का आविष्कार किया, वह था-"दुनिया से हमें क्या मतलब हमें तो ईश्वर भजन करना है।" यह लोग कपड़े रँगाकर, मूड़ मुड़ाकर, बाल बढ़ाकर,माला लेकर अकर्मण्यता की गोद में गिर पड़ते। खाते तो दुनिया का ही पर कृतघ्नतापूर्वक संसार को पापी, भवसागर, दुःखमय बताते। समय काटने के लिए माला सटकाते रहते, नाचते-कूदते रहते, आँखें बंद किए बैठे रहते या ऐसा कुछ और ढोंग बना लेते। ऐसा करने से उनकी अयोग्यताओं पर परदा पड़ जाता । ईश्वर के नाम पर आदर भी मिलता, भोजन व्यवस्था भी हो जाती। इस वर्ग में आलसी और अशिक्षित लोग अधिक होते, कोई एकाध अर्द्ध शिक्षित भी समय के फेर से इसी प्रवाह में बह जाता। खोजने पर दस-बीस अच्छे पढ़े-लिखे भी इस हरामखोरी में शामिल हो जाते। साधु-संत नामधारी करीब आधे करोड़ भिखमंगे ईश्वर की खाल ओढ़कर इधर-उधर दुत्कारें खाते और भोले-भाले लोगों को भ्रम-जंजालों में फँसाते फिरते हैं। जिन गृहस्थों पर इनका प्रभाव पड़ा, वे भी अर्द्ध अकर्मण्य होकर आलस्य और प्रमाद में अपना जीवन नष्ट करने लगे। गीता कहती है-"कर्त्तव्य का पालन करना ईश्वर का भजन है।" किंतु इन आदमियों का भजन आलस्य में पड़े रहना या कोई ढोंग-धतूरा रचते रहना ही बना हुआ है।

इस प्रकार अवांछनीय लोगों द्वारा-(१) मनुष्य को अमीर-गरीब ईश्वर बनाता है। (२) ईश्वर ने कुछ लोगों को ऊँच और कुछ को नीच बनाया है। (३) ब्राह्मण कौम में पैदा हुए लोग ही पैसा पाकर पापदंड से छुड़ाकर स्वर्ग दिला सकते हैं। (४) कर्त्तव्य छोड़कर

भजन ही करते रहना चाहिए। यह चार सिद्धांत फैलाए गए। इन सिद्धांतों की शाखा-प्रशाखाएँ अनेक हैं। सब मिलाकर इस तीसरे दरजे के ईश्वर को 'स्वार्थ साधन का आडंबर' कहा जा सकता है। इसका जो प्रभाव जनता पर पड़ता है उसको एक समाजशास्त्रवेत्ता ने 'अफीम की गोली' की उपमा दी है। अफीम के नशे में मनुष्य अपना कर्त्तव्य भूल जाता है और बुरी से बुरी स्थिति में भी सुख अनुभव करने लगता है। यह प्रभाव इस 'स्वार्थ साधन के आडंबर' का होता है। लोग अपनी स्वतंत्र बुद्धि की आत्मप्रेरणा का इस नशे से हनन कर डालते हैं और पापपूर्ण परिस्थितियों में भी नाली के कीड़े की तरह संतोष-लाभ करने लगते हैं।

इस तीसरे दरजे को बहुत प्राचीन समय में 'शैतान' नाम दिया गया था। आध्यात्मिक विद्वान इसे 'अफीम की गोली' कहते हैं। समाजशास्त्रियों की दृष्टि में वह 'स्वार्थ साधन का आडंबर' है। हम इसे 'पाप प्रपंच' घोषित करते हैं और अपने पाठकों से अनुरोध करते हैं कि इन मानसिक महामारी को हजार कोस दूर से ही दंडवत करते हुए बच भागने के लिए सदैव सावधान रहें।

❐

मुद्रक-युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा (उ. प्र.)